THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL LIBRARY
OU_180236
UNIVERSAL LIBRARY

लखनऊ विश्वविद्यालय व्याख्यान माला—१

साहित्य का मर्म

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

[१]

मित्रो,

साहित्य के मर्मार्थ पर बहुत विचार हुआ है। मुझे अपने विनीत वक्तव्य को आपके सम्मुख उपस्थित करते समय इस बात का लेश मात्र भी भ्रम नहीं है कि आपको कोई नई बात सुना सकूंगा, या कम से कम पुरानी बात को नई सी बनाकर आपका मनोरंजन कर सकूंगा। मेरा वक्तव्य साहित्य के समझने के प्रयत्न करते समय उठी हुई कठिनाइयां और शंकाओं की कहानी है। इस विद्वत्सभा में उन्हें उपस्थित करते समय मेरे मन में कोई दुविधा नहीं है। अपना मत प्रकट करने में भी मैं संकोच न करने का सकल्प लेकर ही खड़ा हुआ हूं। मेरे मन में यदि कोई भ्रान्ति होगी तो उसके दूर करने का इससे उत्तम सुयोग दूसरा कहां मिलेगा? फिर मेरी कठिनाइयाँ केवल मेरी नहीं हैं, संपूर्ण विद्यार्थी समाज की हैं। बहुत दिनों से अध्यापक का कार्य करता हूं, नाना मुनियों के नाना मतों को पढ़ाने और समझाने का व्रत ले रखा है, सौ प्रकार के मत-मतान्तरों की चर्चा करता रहता हूँ। सब रुचते भी नहीं और सब पचते भी नहीं। एक ही लेखक के बारे में इतनी परस्पर विरुद्ध रायें सुनने को मिलती हैं कि कभी कभी यह आशंका होती है, कि साहित्य का मूल्यांकन करना कोई शास्त्रीय विषय है भी या नहीं। कभी कभी ऐसे आचार्यों और सहृदयों से मतभेद हो जाता है जिनके ज्ञान और अनुभव के विषय में हृदय में अपार श्रद्धा रहती है, फिर ऐसे मित्रों से भी मतभेद हो जाता है, जिनकी बहुज्ञता से पूरी तरह परिचित रहता हूं। ऐसे समय मन में बड़ी दुविधा का भाव पैदा होता है। क्या मेरी भ्रान्त धारणा ही इसका कारण है या परपक्ष की कोई कमी इसका हेतु है? बिहारी की नायिका की भांति चित्त दोलायित हो उठता है।

> मैं ही बौरी विरहबस, कै बौरो सब गांव?
> कहा जानि ए कहत हैं, ससिहिं सीतकर नाँव!

मेरा अनुमान है कि इस प्रकार की दुविधा सभी सहृदयों के मन में उठती होगी। कुछ इसी प्रकार के मनोभाव से खिन्न होकर फ्रेंच समालोचक एण्ड्रिऊ लैंग ने कहा था

आलोचक वस्तुतः अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा और शिक्षित चित्त के साहसिक अभियान की ही कहानी सुनाता है। उसे जब किसी कवि या नाटककार के बारे में कुछ कहना पड़े तो इस प्रकार नहीं शुरू करना चाहिए कि 'सज्जनों', मैं अमुक साहित्यिक के विषय में अपने विचार सुनाने जा रहा हूँ।' बल्कि इस प्रकार शुरू करना चाहिए कि, 'सज्जनों', अमुक कवि या साहित्यकार के ग्रंथों को पढ़ने से मेरे चित्त में जो प्रतिक्रिया हुई है, उसे अपनी मानसिक प्रतिक्रिया के विषय में आपको अपने विचार सुनाने जा रहा हूं।' साहित्य का अध्यापक इस वाक्य की अन्तर्निहित वेदना को समझ सकता है। उसे एक ही कवि पर इतनी भिन्न भिन्न रायें सुनानी पड़ती हैं और सब परस्पर मतों का औचित्य विभिन्न दृष्टिकोणों से स्थापित करना पड़ता है कि यदि वह संवेदनशील हुआ—जिसकी सौभाग्य-वश, बहुत कम अध्यापकों से आशा की जा सकती है,—तो व्यथित हुए बिना रह नहीं सकता। क्या यह जो आलोचना के नित्य नये मान निर्धारित होते आ रहे हैं, उनका एक ही भविष्य है ?—थकिया दिया जाना ! ये समालोचक कहे जाने वाले बुद्धिजीवियों के उठाए हुए महल क्या ताश के मकानों से अधिक मूल्य नहीं रखते ? और यह साहित्यिक आलोचना का इतिहास 'नवनवोन्मेषशाली' शिक्षित चित्तों के साहसिक मनोविकारों के ढूहों से क्या भर नहीं गया है ? कहा जाता है कि समालोचना की दुनिया निराली होती है, उसकी तुलना अन्य विज्ञानों से नहीं की जा सकती। अन्य वैज्ञानिक ठोस और इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तुओं का निरीक्षण-परीक्षण किया करते हैं, जब कि समालोचक अनिन्द्रियग्राह्य—मैं 'अतीन्द्रिय' नहीं कहता—अलौकिक रस वस्तु की जाँच करता है वह अपने मनोभावों को छोड़कर इसकी विवेचना नहीं कर सकता। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि पढ़ते ही जो काव्यादि उसे अभिभूत कर डालें—'पद-झंकार मात्रेण' उसका मन हरण कर लें—उन्हें ही वह श्रेष्ठ घोषित कर दे और यह भी हो सकता है कि काव्य पाठ करके उसे दीन दुनिया के बारे में सोच समझकर यह स्थिर करना चाहिए कि किस काव्य को उसे श्रेष्ठ घोषित करना चाहिए और जब एक बार 'उचित' की मीमांसा हो जाय तो उसे बौद्धिक विवेचना के रूप में सहृदय समाज के सामने उपस्थित कर देना चाहिए। समालोचकों ने दोनों प्रकार के मत दिए हैं। परन्तु मैं सोचता हूं कि सब लोग अपने अपने मन का बाँट लेकर बाजार में खड़े हो जायँ तो क्या सामाजिक सम्बंध कायम रह सकता है ? काव्य और काव्य की आलोचना जंगल में गाए हुए बुलबुल के गान नहीं हैं। उनका एक सामाजिक मूल्य है। साहित्यालोचना को इस प्रकार के भावावेगी आलोचकों से बचाने का प्रयत्न होना चाहिए इस प्रकार के प्रयत्न करनेवालों में अग्रणी समालोचक श्री आई.

ए. रिचार्ड्स ने अपनी 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म' नामक पुस्तक में खेदपूर्वक कहा है कि काव्य समझने के लिए सर्वमान्य लक्षणशास्त्र बनाने का प्रयत्न उतनी भी गंभीरता के साथ भी नहीं किया गया जितनी गंभीरता के साथ पोल-जम्पिंग के नियम बनाए गए हैं !

मेरा अनुमान है कि यदि रिचार्ड्स को भारतीय अलंकारशास्त्रों का परिचय होता तो उन्हें इतना खेद न होता। सर्वमान्य लक्षणशास्त्र बनाने का प्रयत्न भी हुआ है और गंभीरता भी कम नहीं बर्ती गई और थोड़ी सी हिचक के साथ यह भी कहा जा सकता है कि उन्हें सफलता भी थोड़ी बहुत मिली ही है। परन्तु मुझे लगता है कि द कारणों से यह गंभीर साहित्य आज की आवश्यकताओं की पूर्ती करने में समर्थ नहीं हो सका। ये दोनों कारण बहुत महत्वपूर्ण है। प्रथम तो यह कि यह शास्त्र जिन दिनों अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा, उस समय भारतीय मनीषा नवीन अनुसंधान की ओर से शिथिल-प्रयास बन गई थी। यह मान लिया गया था कि प्राचीनों ने सब श्रेष्ठ विचार कह रखे हैं, अब नये सिरे से कुछ कहने को नहीं रह गया है, यदि कुछ नया कहना भी हुआ तो टीका या व्याख्या के बहाने ही कहा जा सकता है। यह बात हर क्षेत्र में सत्य है। इस से एक प्रकार की स्तब्ध और जबदी हुई मनोवृत्ति का आभास मिलता है जो मध्ययुग का एक प्रधान लक्षण कही जाती है। दूसरी बात यह है कि जब नये विज्ञान युग का आविर्भाव इस देश में हुआ तो दुर्भाग्यवश हमारी शिक्षा-पद्धति एक दम अभारतीय हो गई और नवीन शिक्षितों के सामने हमारे देश की इस सुचिन्तित विचारधारा—फिर यह कितनी भी स्तब्ध मनोवृत्ति की उपज क्यों न हो—का उत्तराधिकार नहीं मिला। यह शास्त्र जहाँ का तहाँ थमा रह गया। काव्य विचार के एकदम नये और अस्थिर मानों ने हमारी विचारशील जनता के मस्तिष्क को अभिभूत कर लिया।

बाहर की विचारधारा से हमारा यह जो संपर्क हुआ उसे शुरू में विजातीय संघर्ष ही समझा गया। उसकी जबर्दस्त प्रतिक्रिया भी हुई और उन प्रतिक्रिया ने भी हमारी साहित्यिक आलोचना-पद्धति में अपना अच्छा बुरा प्रभाव डाला है। यथावसर हम उसकी चर्चा आगे करेंगे। यहाँ हम इस बात की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं कि यह विजातीय संस्कृति से संपर्क या संघर्ष मात्र नहीं था, उससे बड़ा और व्यापक था। यह एकदम नवीन युग का आविर्भाव था। जड़ विज्ञान के अभ्युदय ने मनुष्य के पुराने संस्कारों और बद्धमूल विचारों पर कसके कठोर आघात किये थे। उन आघातों से पश्चिम की मनीषा तिलमिला गई थी। जिन लोगों से हमारा

परिचय हुआ वे भी बहुत कुछ अपने पुराने विचारों को छोड़ रहे थे और नये आधार खोज रहे थे। थोड़ा परिचय गाढ़ होते ही हमारे देश के नये शिक्षितों ने अनुभव किया कि सभी नये विचार ईसाइयत या अंग्रेजियत की ही देन नहीं है, बहुत कुछ नये विज्ञान की, और उस नये विज्ञान से उत्पन्न नई परिस्थिति की देन हैं। परन्तु मनुष्य एकदम प्राचीन को छोड़कर खड़ा नहीं हो सकता। पश्चिम के विचारकों को भी अपने देश के पुराने विचारों के आधार नीचे से प्रभावित करते रहे। विचारों की विकास-परंपरा की जानकारी के द्वारा जो ऐतिहासिक दृष्टि इस देश में प्रतिष्ठित हुई वह यद्यपि नवीन युग की देन थी, परन्तु वह सम्पूर्ण रूप से विदेशी थी क्योंकि उसका प्रवाह पश्चिमी मनीषियों की विचार-शृंखला के भीतर से स्थिर किया गया था और इस देश के विचारकों का उसमें कोई स्थान नहीं था। इस प्रकार हमारी विचार परंपरा का स्रोत पहले तो अज्ञान के कारण सूख गया और बाद में उपेक्षा के कारण भुला दिया गया। भारतीय सहृदय एकदम विचित्र परिस्थिति में पड़ गया। संस्कृत की पढ़ाई अब भी पुराने ढंग से चल रही थी, परन्तु उसकी स्तब्ध मनोवृत्ति और भी स्तब्ध हो गई। किसी ने नवीनतर समस्याओं के बारे में पुराने पंडित की राय पूछी भी नहीं, पूछने की जरूरत भी नहीं समझी और पुराना पंडित सब ओर से उपेक्षित होकर अपनी पोथियों की संकुचित सीमा में अधिकाधिक सिमटता गया। नई शिक्षा की शानदार सवारी एकदम विदेशी सज्जा में सजकर निकली। उसकी चमक-दमक ने वृद्ध देश की आँखों में चकाचौंध पैदा कर दी।

देश के विचारशील लोगों को वह अवस्था कष्टदायक लगी। नाना भाव से अपने देश को समझने समझाने की आवश्यकता पर जोर दिया गया। विशेषज्ञों का एक दल जिनमें विदेशी पंडितों का महत्वपूर्ण स्थान था—अपने देश की विद्या का अध्ययन करके लुप्त होती हुई सामग्री का उद्धार करने में लग गया। बहुत-कुछ बचाया जा सका, बहुत-कुछ उबारा जा सका, परन्तु इन विषयों का उस प्रकार उपयोग नहीं किया जा सका जिस प्रकार जीवन-रस देने वाले साहित्य का होना चाहिए। प्रधान प्रेरणास्रोत विदेशी विचारक बने रहे और इस देश के शिक्षितों ने अपने पुराने साहित्य के प्रति एक ऐसा मनोभाव पैदा कर लिया जिसे अंग्रेजी में 'म्यूज़ियम इन्टरेस्ट' कहते हैं। यह एक दृष्टि से बहुत बुरा हुआ। इनके यदि संपूर्ण समाज की वृहत्तर पटभूमिका पर रख कर और प्रधान प्रेरणास्रोत मान कर अपना आलोचना मान निर्धारित किया गया होता तो कुछ और ही फल होता। सामाजिक पटभूमि से विच्छिन्न होकर हमारे प्राचीन ग्रंथ केवल प्रदर्शिनी की

वस्तु रह गए। उनका अधिक से अधिक उपयोग केवल इतना ही समझा गया कि उनमे प्राचीन भारतीय साहित्य के अध्ययन में सहायता मिलती है।

इधर जब से विश्वविद्यालयों ने मातृभाषाओं को भी उच्चतर अध्ययन के योग्य विषय मान लिया है तब से प्राचीन साहित्य और प्राचीन अलंकार ग्रंथों के पठन-पाठन की ओर अधिकाधिक रुचि उत्पन्न हुई है। ऐसा भी प्रयत्न होने लगा है कि पुराने अलंकार शास्त्रों की बताई विधियों से नई काव्यसामग्री का मूल्यांकन किया जाय। यद्यपि यह प्रयास भारतीय शास्त्रों के अध्ययन की दृष्टि से अच्छा ही है, परन्तु यह भी भारतीय तरुण विद्यार्थी के मन में एक उलझन ही पैदा करता है। नाना कारणों से नई कविता में ऐसी अनेक नई बातें आ गई हैं जो पुराने आलंकारिकों के सामने नहीं थीं और नये कवियों के सामने ऐसी समस्याएँ अब नहीं हैं जो पुराने कवि के सामने थीं। सहृदय भी अब पुराना दरबारी या विलासी नागरिक नहीं है। मशीनों ने दुनिया में नई क्रान्ति ला दी है। छापे की मशीन ने साहित्य को जन साधारण तक सहज ही पहुँचाने के साधन सुलभ कर दिए हैं, कविता अब कान से सुनने की चीज न रह कर आँख से पढ़ने की चीज बन गई है। काव्यगत झंकार से पाठक अब भुलावे में नहीं आता; वह आँख से पढ़ने के बाद कविता में सार खोजता है। वह आवेगकम्पित कम होता है, बुद्धिचलिता अधिक। राजशेखर ने जिस 'अभिप्रायवान् पाठधर्म'-यानी 'काकु' को इतना बहुमान दिया था वह अब काव्य की बड़ी शक्ति एकदम नहीं है। ग्राहक इंद्रिय के परिवर्त्तन के साथ ही आस्वाद्य वस्तु में भी परिवर्तन हुआ है। यह ठीक है कि संस्कृत के साहित्य के निपुण पारखी पुराने ढ़ंग के प्रवीण अलंकार शास्त्रियों ने अपने ढंग से शब्द और अर्थ की परस्परस्पर्द्धि चारुता के सहचर्य (=साहित्य) का जैसा विवेचन किया है, वैसा संसार के साहित्य में दुष्प्राप्य ही है। वस्तुतः 'साहित्य' शब्द का प्रथम प्रयोग कुन्तक (कुन्तल) नामक आचार्य ने शब्द और अर्थ के ऐसे विशिष्ट सहचर्य के अर्थ में ही किया था, जिसमें बक्रता के कारण विचित्र गुणों और अलंकारों की शोभा एक दूसरे से स्पर्धा करती

---

१ शब्दार्थौद्वौ सम्मिलितौ काव्यमिति स्थितम्। एवमस्थापिते द्वयोः काव्यत्वे कदाचिदेकस्य मनाङ्मात्र-शून्यतयां सत्यां काव्य व्यवहारः प्रवर्तत इत्याह—सहिताविति। सहभावेन साहित्येन अवस्थितौ। ननु वाच्य वाचक संबंधस्य विद्यमान त्वादेतयोर्न कथंचिदपि साहित्याविरहः। सत्यमेतत्। किन्तु विसिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम्। कीद्रशम्? वक्रता विचित्र गुणालंकार संपदां परस्पर स्पर्धाधिरोहः।—व्यक्तिविवेक

हुई आगे बढ़ रही हो ।[1] लेकिन शब्द और अर्थ सामाजिक संबंधों के प्रतीक हैं । जिस प्रकार नोट या सिक्का बाज़ार के व्यवहार में मूल्य का प्रतीक है, उसी तरह शब्द मनुष्य के सामाजिक संबंधों के प्रतीक हैं । शब्द और अर्थ के 'साहित्य' को लेकर कारबार करने वाली विद्या निश्चित रूप से मनुष्य के सामाजिक रूप की व्याख्या करती है । इसलिये साहित्य के अध्ययन के लिये केवल पोथी में लिखे हुए लक्षण ही नहीं बल्कि वृहत्तर मानव समाज का भी परिचय आवश्यक है । पुराने अलंकार ग्रंथों के काव्य विषयक विचार समझने के लिये भी इसकी जानकारी आवश्यक है ।

ध्वनि संप्रदाय की प्रतिष्ठा के बाद इस देश के आलंकारिक प्रायः अनेक विषयों पर एक हो सके थे और मोटे तौर पर यह मान लिया जा सकता है कि शब्दार्थ-साहित्य की चारुता और रस-बोध के संबंध में उन्होंने एक सामान्य मान (स्टैन्डर्ड) उद्भावित कर लिया था । २ रस-गंगाधर आदि अलंकार ग्रंथो और उनकी परवर्त्ती टीकाओं में काव्य की परिभाषा की व्याख्या करने के बाद टीकाकार लोग प्रायः एक ही प्रकार का तर्क उठाते हैं, : 'यदि यह परिभाषा स्वीकार कर ली गई तो बहुत सी प्राचीन कविताओं को हम कविता नहीं कह सकते ।' उत्तर में कहलाया जाता है—' यह तो हम चाहते ही हैं (इष्टापत्ति) कि जो रचनाएँ इस परिभाषा के बाहर पड़ जायँ उन्हें कविता नहीं कहें ।' फिर इसके उत्तर में कहलाया जाता है—'नहीं, आप ऐसा नहीं कह सकते ! क्योंकि आप जिस बात को मानना चाहते हैं उसके मानने से शिष्ट संप्रदाय का विरोध होगा (शिष्ट संप्रदाय विरोधात्)—इत्यादि । यहाँ हम इस तर्क के विस्तार में नहीं जायँगे । परन्तु इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि पुराना भारतीय सहृदय शिष्ट परंपरा के विरोध को नहीं बर्दाश्त कर सकता । यही कारण है कि पुराने संस्कृत साहित्य का एक महत्वपूर्ण भाग आलोचनाशास्त्र के बहु-विघोषित मर्यादा से थोड़ा विच्छिन्न हो जाता है । इसलिये मेरा प्रस्ताव है कि पुराने साहित्य के अध्ययन के लिये हमें आलंकार शास्त्र से बाहर भी आना चाहिए । आखिर शिष्ट-संप्रदाय का विकास कुछ सामाजिक परिस्थितियों के भीतर से ही तो होता है ।

---

२ यत्तु रसादेव काव्यमित्ति साहित्य दर्पणे निरणीतं तन्न । वस्त्वलंकार प्रधाना नाम् काव्यानाम कत्वापत्ते : । न चेष्टापत्ति : महाकविसंप्रदाय विरोधात्—राजगंगाधर

पुराने पंडितों ने भी देखा था कि केवल लक्ष्य लक्षण की जानकारी काफीनह है। तर्क करने की क्षमता भी होनी चाहिए, अवाय-उद्वाय द्वारा वस्तु के याथार्थ्य तक पहुँचाने का सामर्थ्य भी होना चाहिए। अलंकार शास्त्र की भी अपनी मर्यादा है, उस मर्यादा का रहस्य समझने की क्षमता भी आवश्यक है और काव्यज्ञ शिक्षा का अभ्यास भी होना चाहिए, अर्थात्, काव्य की निरन्तर प्रवहमान परंपरा का ज्ञान भी जरूरी है। इन गुणों के बिना यदि काव्य का रसास्वादन किया जा सके तो फिर कौए की कालिमा से राजाओं के महलों की सफेदी भी हो सकती है :

> यः स्वत् केवल लक्ष्य लक्षण परो न तर्कसंपर्कभृ—
> आलंकार विचार सार धिषणः काव्यज्ञ शिक्षोज्झितः।
> तस्मिं-श्चेद्रसशालि काव्यमुदयेदेकान्ततः सुन्दरम्
> प्रासादो धवलस्तदा क्षितिपतेः काकस्य काष्टामद्भिवत ॥

चित्र, प्रहेलिका आदि को नये परवर्त्ती आलंकारिकों ने अलंकार तक नहीं माना है क्योंकि ये रस के परिपंथी हैं। फिर भी संस्कृत साहित्य का एक महत्वपूर्ण भाग चित्र और प्रहेलिका से भरा है। संस्कृत के सभी काव्य सुभाषितों के संग्रह में इनको स्थान मिला है। सिद्धों और संतों की संधाभाषा के पद और उलटबांसियाँ प्रहेलिका की सीमा तक पहुँची हैं। क्यों ऐसा हुआ ? दंडी माघ और भारवि जैसे कवियों ने इस निरर्थक सी बात के लिये कम सिर नहीं खपाया है। संस्कृत में कितनी ही पोथियां, समस्यापूर्ण आशुकवित्व और प्रहेलिका, चित्र आदि सिखाने के उद्देश्य से ही लिखी गई हैं। निश्चय ही समाज में इनका हेतु खोजना पड़ेगा। सामाजिक परिस्थितियों के अध्ययन बिना हम इसका रहस्य नहीं समझ सकते। हमें यह जानना होगा कि उस युग के नागरजन कैसे होते थे, काव्य का सम्मान करने वाले सहृदय रईस कैसे होते थे, काव्य को क्या समझा जाता था, और यश और सम्मान पाने के साधन क्या क्या थे। जब तक हम यह नहीं जानते, कि सन् ईस्वी के आरंभ से लेकर सैकड़ों वर्ष बाद तक कवियों के सम्मान के लि सरस्वती भवन, कामदेवायतन में विदग्ध गोष्ठियाँ बैठा करती थीं, उनमें अक्षरच्युतक, विंदुमती, समस्या-पूर्ति आदि में सम्मानित होने वाले व्यक्ति को राजा लोग पद से सम्मानित ही नहीं करते थे, कभी कभी उन्हें रथ में बैठाकर स्वयं खींचकर सम्मान भी दिया करते थे तब तक नेरपितइश्रम से इन बेकार सी बातों के लिये कविय का प्रयत्न पागलपन-सा लगेगा।

इन दिनों नागरिक लोग विंदुमती और अक्षरच्युतक से मनोविनोद किया करते थे, राज दरबार में चमत्कारिक उक्तियों से प्रतिद्वंदी कवि को पछाड़ने का प्रयत्न करते थे, आशु-कवित्व द्वारा सभा को चकित करके यशस्वी बनते थे। ये बातें हमारे इतिहास की सामग्री हैं। दण्डी ने कहा है कि प्रतिभा न होने पर भी अभ्यास से कवित्व की सिद्धि प्राप्त हो सकती है। इसीलिये कीर्ति चाहने वाले लोगों को परिश्रम के साथ काव्यविद्या का अभ्यास करना चाहिए। यदि वे परिश्रम करें तो कवित्वशक्ति के दुर्बल होने पर भी विदग्ध गोष्ठियों में विहार तो कर ही सकते हैं—

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमुत्तमम्
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्।
तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते।

—काव्यादर्श १. १०४ १०५

यह प्रश्न नितान्त अनुचित नहीं है कि वह काव्य जो राज सभाओं में या गोष्ठी-विहारों में कवि को कीर्तिशाली बना देता था, कैसा होता होगा ? कुमारसंभव जैसे बड़े बड़े प्रबंध काव्यों के पढ़ने योग्य समय तो वहाँ नहीं रहता होगा, मेघदूत जैसे खण्ड काव्य भी कम ही पढ़े जा सकते होंगे। वस्तुतः जो काव्य इन स्थानों पर पढ़े जाते होंगे वे छोटे छोटे मुक्तक ही होते होंगे और उक्ति चमत्कार का उनमें प्राधान्य रहता होगा। राजशेखर ने उक्ति विशेष को जब काव्य कहा था उनका मतलब कुछ इसी प्रकार के काव्य से था। मैं यह नहीं कहता कि रसपरक काव्य का उन दिनों कोई महत्त्व ही नहीं था, मैं केवल यह कहना चाहता हूं कि राज सभाओं और गोष्ठी विहारों में जो काव्य कीर्तिशाली बना सकते थे वे चमत्कारिक उक्तियोंवाली रचनाएँ ही होती थीं। पुरानी अनुश्रुतियों से इस बात का समर्थन होता है। रुद्रट ने स्पष्ट रूप से कहा है कि (५-२४) मात्राच्युतक, विंदुमती, प्रहेलिका आदि केवल क्रीड़ामात्र के लिये उपयोगी हैं, [१] और दण्डी ने काव्यादर्श में (३. ९७) क्रीड़ा-गोष्ठियों के विनोद में साहित्यरसिकों की बैठक में और दूसरों को मोहित

१. मात्राविंदुच्युतके प्रहेलिका कारकक्रिया गूढ़े।
प्रश्नोत्तरादि चान्यत् क्रीड़ामात्रोपयोगमिदम्॥

—रुद्रट ५-२४

करने के लिये ही प्रहेलिकाओं का उपयोग है।[1] संभवतः पुराने अलंकारशास्त्रों में रस की उतनी परवा न करके, उक्ति वैचित्र्य और गुणदोष की ही चर्चा जो अधिक मिलती है उसका भी यही कारण है। गुण-दोष का ज्ञान वादी को पराजित करने में सहायक होता था। काव्य के लिये केवल प्रतिभा को ही आवश्यक नहीं माना जाता था, अभ्यास की भी पूरी आवश्यकता अनुभव की जाती थी। यह तो स्वीकार किया गया है कि प्रतिभा नहीं होने से काव्य सिखाया नहीं जा सकता, विशेष कर उस आदमी को तो किसी प्रकार कवि नहीं बनाया जा सकता जो स्वभाव से ही पत्थर के समान जड़ है, जिसे आर्द्रता की लहरें थोड़ा भी अन्तः सिक्त नहीं कर पातीं। फिर ऐसे आदमी को भी काव्य का अभ्यास नहीं कराया जा सकता, जो तर्कशास्त्र या व्याकरण पढ़कर अपनी स्वाभाविक संवेदनशीलता खो चुका है। पहले प्रकार का व्यक्ति 'प्रकृत्या जड़' कहा जाता है और दूसरे प्रकार का 'नष्ट साधन'। क्षेमेन्द्र ने अपने 'कवि कंठाभरण' में बताया है कि इनको काव्य किसी प्रकार नहीं सिखाया जा सकता।[2] परन्तु यदि थोड़ी भी शक्ति हो तो काव्य सिखाया जाना संभव है। प्राचीनों का विश्वास था कि पूर्वजन्म के पुण्य से, या मंत्रसिद्धि से, या देवता के वरदान से बीच में अचानक कवित्व प्राप्त हो जाता है। कवित्व सिखानेवाले ग्रंथों का यह दावा तो नहीं है कि वे गधे को गाना सिखा देंगे या अंधे को देखने की शक्ति दे देंगे, पर थोड़ी सी शक्ति हो तो उसे सभाओं में सम्मान पाने योग्य बना देना उन्हें संभव जान पड़ता है और पुराने सामंतयुग के मनुष्य के लिए यह कम महत्व की बात नहीं थी। क्योंकि यद्यपि शास्त्र के अनुसार काव्य यश के लिये, व्यवहार ज्ञान के लिये, अमंगल-निरास के लिये, सहज मुक्ति के लिये या कान्तासम्मित उपदेश के लिये लिखे जाते थे अर्थात् जीवन की लगभग समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये काव्य लिखे जाते थे, पर ज्यादा

---

१. क्रीड़ागोष्ठी विनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमंत्रणे
पर कामोहने चापि सोभयोगाः प्रहेलिका।

का ३. ९७

२. यस्तु प्रकृत्याश्म सभा न एव कष्टे न वा व्याकरणेन नष्टः
तर्केण दग्धोऽनल धूमिना वाऽप्यविद्धकर्णैः सुकवि प्रबंधैः।
न तस्य वक्तृत्व समुद्भवः स्यात् शिक्षा विशेषैरपि सुप्रयुक्तैः
न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि सदर्शितं पश्यति नार्कमन्धः।

—कवि कंठाभरण १. २३-२४

ज़ोर कीर्ति पाने पर ही दिया गया है। कवियों की यह कहकर प्रशंसा की गई है कि उनके यशः शरीर में जरा-मरण का भय नहीं होता।

जयन्ति ते सुकृतिनः रससिद्धाः कविश्वराः
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम् !!

मध्ययुग के अनेक प्रयत्नों के मूल में कीर्ति पाकर अमर होने की लालसा काम कर रही है। कीर्ति प्राप्त करने में राजा और उसकी राजसभा मुख्य सहायक साधन थे। सुभाषितों में राजस्तुति को निर्विवाद रूप से काव्य मान लिया गया था। राजदरबार को कीर्ति प्राप्त करने का केंद्र मान लेने के कारण एक विशेष प्रकार का दरबारी, काव्य उन दिनों बहुत लोकप्रिय हुआ और दुर्जनों और चुगुलखोरों की निंदा और सज्जनों और सहृदयों की प्रशंसा को उसमें विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ। यह परम्परा बहुत दिनों तक किसी न किसी रूप में जीती चली आई। अन्तिम हिंदू सम्राटों और राजाओं के दरबार के कवि पूरे दरबारी हो गए थे। सामन्त युग का पूरा प्रभाव हमारे अलंकार शास्त्रों पर पड़ा है। राजकीय ठाटबाट का जीवन कवि का भी आदर्श हो गया। राजशेखर ने कवि के जिस शानदार जीवन का चित्र खींचा है वह चौंधिया देनेवाला है। माघ पंडित की समृद्धि का वर्णन प्रबन्ध चिन्तामणि आदि ग्रंथों में बड़ी मुखर भाषा में किया गया है, स्वयं राजा भोज को उस समृद्धि के सामने चकित और हतगर्व होना पड़ा था। ऐसा जान पड़ता है कि इस श्रेणी के कवियों के सामने वाल्मीकि और व्यास का आदर्श नहीं था, यद्यपि उनके प्रति भक्ति प्रचुर मात्रा में थी।

आज का कवि भी यह स्वीकार करने में संकोच करेगा कि वह धन के लिए या यश के लिए या व्यवहार सिखाने के लिए लिख रहा है और पाठक भी उससे इन बातों की आशा नहीं करता। छापे की मशीन ने इन विषयों के लिए अनेक अन्य शास्त्रों को सुलभ कर दिया है। इस मशीन ने जो पाठक को भावावेश पर से धकेलकर बुद्धिप्रवाह में फेंक दिया है, वह मामूली बात नहीं है। कवि के हाथ से अनेक विभाग छिन गए है। कुछ कहानियों ने ले लिया है, कुछ उपन्यासों ने हथिया लिया है, कुछ निबन्धों ने छीन लिया है, और इन साहित्यांगों ने 'कान्तासम्मित उपदेश' देने के महान मंच पर से कवि को उतार दिया है। पाठक उससे कुछ अधिक चाहता है। क्या चाहता है यह कहना बड़ा कठिन हो गया है। शायद वह 'जीवन की व्याख्या' चाहता है, शायद वह

आत्माभिव्यक्ति चाहता है, शायद वह 'स्पांटेनियस आउटबर्स्ट आफ पर्सनल फीलिंग्स' (वैयक्तिक अनुभूतियों का स्वतः समुच्छ्रित उच्छ्वास) चाहता है, या शायद वह 'मानवता के अन्तस्तल में निहित एकता को उपलब्धि' चाहता है--ऐसा ही कुछ आधुनिक आलोचकों ने उस रहस्यमय मांग को समझ रखा है। अब युगचेतना को स्वर देना कवि का कर्तव्य माना जाने लगा है, मानव-संस्कृति का निर्माण करना उसका लक्ष्य समझा जाने लगा है। अब उसे दरबार को जीत कर कवियश पाने का अधिकारी नहीं माना जाता।

पुराना कवि इतनी मांगों का शिकार नहीं बना था। इसीलिये उसकी दुनिया काफी बड़ी थी फिर भी विचित्र विरोधाभास यह है कि वह दुनिया के समस्त पदार्थों को अपने वर्ण्यविषय के अन्तर्गत मानने पर भी चुनता कुछ थोड़े ही विषयों को था। उसे वर्ण्यवस्तु को सरस बनाने की बड़ी चिन्ता थी और उसमें भी वह शृंगार को ही अधिक महत्व देता था। इस रस के बाहर यदि वह जाता था तो प्रायः ऐसी बातों में ही उलझता था जिसमें वक्तव्य वस्तु कुछ ऐसी वक्रभंगिमा में प्रकट हो कि सहृदयों की सभा वाहवाह कर उठे।

उस काल के ग्रंथों में राजसभाओं का जो वर्णन पाया जाता है वह यद्यपि एक प्रकार के काव्यविनोदों से परिपूर्ण है फिर भी उसमें उक्तिवैचित्र्य को या कौशलविशेष को ही विशेष सम्मान प्राप्त होता था। कादंबरी में कविवर बाणभट्ट ने इस सभा का बड़ा जीवन्त वर्णन दिया है। जब राजा सभा में उपस्थित होता था तब तो बड़ी शान्ति रहती थी, पर राजा के न रहने पर लोग असंयत हो उठते थे। कादम्बरी के वर्णन के अनुसार जब राजा सभा में उपस्थित नहीं थे, तब सामन्त में से कुछ लोग पासा खेलने के लिए कोठे खींच रहे थे, कोई पासा फेंक रहे थे, कोई वीणा बजा रहे थे, कुछ लोग चित्रफलकों पर राजा की प्रतिमूर्ति आंक रहे थे, कुछ लोग काव्यालाप में मस्त थे, कुछ हंसी-दिल्लगी में मशगूल थे, कुछ लोग बिंदुमती नामक विनोद में उलझे हुये थे (अर्थात् बहुत से बिंदुओं में आकार उकार आदि मात्राएं लगा दी गई थीं और इस परसे वे पूरे श्लोक का उद्धार करने का प्रयत्न कर रहे थे) कुछ लोग प्रहेलिका नामक काव्यभेद का रस ले रहे थे, कुछ राजा के बनाये श्लोकों की चर्चा कर रहे थे, कुछ जो अधिक ढीठ थे, दरबार के मनोविनोद के लिए आई हुई स्त्रियों से रसालाप में लगे हुये थे और कुछ चतुर लोग बंदीजनों से राजा के पूर्वपुरुषों की यशोगाथा सुन रहे थे। इस

वर्णन से जान पड़ता है कि दरबार में काव्य-विनोद की रुचि थी, परन्तु वह काव्य-विनोद विंदुमती, प्रहेलिका, चित्र आदि काव्यों की श्रेणी का था। उन दिनों का दरबारी इन बातों में रस ले सकता था और कवि से इस प्रकार के विनोद में सहायक होने की आशा भी रखता था। वस्तुतः राजसभा में सात अंगो की प्रधानता उन दिनों निर्विवादरूप से स्वीकार कर ली गई थी। ये सात अंग है—(१) विद्वान (२) कवि (३) भाट (४) गायक (५) मसखरे (६) इतिहासज्ञ और (७) पुराणज्ञ—

विद्वांसः कवयो भट्टा गायकाः परिहासकाः
इतिहास-पुराणज्ञाः सभा सप्तांग संयुता ।

ऐसी ही रुचिवाली सभा का सामना कवि को करना पड़ता था। राजा लोग कवि सभा का आयोजन भी करते थे और उनमें कवियों की परीक्षा भी हुआ करती थी। वासुदेव, सातवाहन, शूद्रक और साहसाक आदि राजाओं ने यह परम्परा चलाई थी और परवर्ती राजा लोग इस महत्त्वपूर्ण परंपरा को पोषण देते आये। कवियों की नाना भाव से परीक्षा होती थी। कोई कविता चुरा न ले, इसका भी डर बना रहता था और इसलिए भी यह आवश्यक था कि कवि अपनी रचना समाप्त करने के बाद राजसभा में सुनाकर उस पर अपनी मुहर लगवा दे। राजशेखर ने बताया है कि जब तक काव्य पूरा न हो तब तक दूसरों के सामने उसे नहीं पढ़ना चाहिये। इसमें यह डर रहता हैं कि सुनने वाला उस काव्य को अपने नाम से चला देगा, फिर कौन गवाही देगा कि किसकी रचना है ? इतनी सावधानी बरतने पर भी कभी कभी कवि को धोखा खाना पड़ता था। प्रबन्ध कोश में हर्ष कवि के वंशधर हरिहर कवि की एक मनोरंजक कथा दी हुई है। ये जब गुजरात के राजा वीरधवल के यहां गए थे तो वहां स्वयं न उपस्थित होकर अपने एक विद्यार्थी के द्वारा राजा, मंत्री और राजकवि सोमेश्वर को आशीर्वाद भेजवाया। राजकवि सोमेश्वर को यह बुरा लगा और उन्होंने विद्यार्थी से बात तक नहीं की। सोमेश्वर के इस व्यवहार को हरिहर ने गांठ बांध ली। दूसरे दिन राजसभा में जब सोमेश्वर ने राजा के एक प्रासाद पर खुदवाने के लिए लिखे हुए १०८ श्लोकों का पाठ किया तो हरिहर ने कहा कि ये श्लोक पुराने हैं और महाराजा भोज के प्रासाद पर खुदे हैं। ऐसा कह कर उन्होंने सारे श्लोक पढ़कर सुना दिये। सोमेश्वर तो इस अपवाद से पानी पानी हो गये। उनका मुँह पीला पड़ गया। उनकी मद उड़ गई। कवि के सम्मान को इस प्रकार एक

ही धक्के में गिराकर विजयी हरिहर चले आये । लेकिन श्लोक सचमुच ही सोमेश्वर के थे। जब वे फिर हरिहर के शरणापन्न हुए तब हरिहर कवि ने रहस्य खोला। हरिहर बड़े मेधावी थे। एक बार सुनकर ही श्लोक याद कर लेते थे। राजा वीरधवल से उन्होंने अपनी चतुरता की बात बताकर सोमेश्वर की मानरक्षा की।

ऐसे ही दुर्दान्त हरिहर कवि का पाला एक दूसरे कवि मदन से पड़ा। ये दोनों ही प्रसिद्ध जैनमन्त्री वस्तुपाल के राजकवि थे। दोनों में ऐसी लाग डाँट थी कि दोनों के साथ पहुँचने पर कलह निश्चित था। इसीलिये मंत्री ने नियम बना दिया था कि एक के रहते दूसरा सभा में न आने पाये। द्वारपाल को इस विषय में सावधान कर दिया गया था। लेकिन एक दिन द्वारपाल की असावधानी से हरिहर की वर्तमानता में ही मदन पहुँच गए। हरिहर उस समय काव्य सुना रहे थे। मदन ने डाँट कर कहा—'हरिहर परिहर गर्वं कविराजगजांकुशो मदनः' (हरिहर घमंड छोड़, मदन कविराज रूपी हाथियों का अङ्कुश है!) हरिहर ने तड़ाक से जवाब दिया, 'मदन विमुद्रय वदनं हरिहर चरितं स्मरातीतम्' (मदन मुंह बन्द करो, 'हरिहर का चरित मदन की शक्ति के बाहर है!) मन्त्री ने मामला बढ़ते देखा तो कहा, 'देखिए, कवि महानुभावो, झगड़ा छोड़िए, इस नारियल पर कविता लिखिए, जो पहले सौ श्लोक बना देगा, वह विजयी होगा। मदन ने पटापट पूरे कर दिए, हरिहर तब तक साठ तक ही पहुंचे थे। लेकिन हारनेवाले और होते हैं, हरिहर राजसभा के समझे हुए पक्के अखाड़िये थे। खट से इकसठवाँ श्लोक बनाकर सुना दिया—'अरे गँवई गाँव का मूर्ख, जुलाहा, क्यों गँवार औरतों के पहनने लायक सैकड़ों घटिया किस्म के कपड़े बुनकर अपने आपको हैरान कर रहा है? भलेमानस, एक भी तो ऐसी साड़ी बुन, जिसे बड़े-बड़े राजाओं की महिषियाँ क्षण भर के लिए भी अपने हृदय-स्थल से हटाना गवारा न कर सकें—

रे रे ग्राम कुविन्द कन्दलतया वस्त्राण्यमूनि त्वया।
गोणी विभ्रमभाजनानि बहुशोऽप्यात्मा किमायास्यते?
अप्येकं रुचिरं चिरादभिनवं वासस्तदासूत्र्यतां
यन्नोज्झन्ति कुचस्थलात् क्षणमपि क्षोणीभृतां वल्लभाः।

ऐसी विकट प्रतिद्वंदिता में ठहरना मामूली कला नहीं थी। चिन्तासक्त मंत्रियों की गंभीर मूर्ति, सब कुछ करने के लिये सदा तत्पर दूतों की कठोर मुद्रा, प्रांतभाग में उपस्थित

खुफिया विभाग के धूर्त अफसर, हाथी घोड़ों का चकरा देनेवाला ठाटबाट, कायस्थों की कुटिल भृकुटियां और कूटनीति के दाँवपेंच में उस्ताद लोगों का जाल मामूली साहसवाले मनुष्य को तो अँतड़ी ही सुखा देते थे। एक कवि ने राजा के सामने ही इस राजसभा को हिंसजंतुओं से भरा समुद्र बताकर अपनी मानसिक हैरानी को किंचित् हल्का करने का प्रयत्न किया था—

> चिन्तासक्त निमग्न मंत्रिसलिलं दूतोर्मिशंखाकुलम्।
> पर्यन्तस्थित चार नक्रमकरं नागाश्वहिंस्राश्रयम्।
> नानावासक कंक पक्षिरुचिरं कायस्थ सर्पाकुलम्
> नीतिक्षुण्ण तटं च राजकरणं हिंस्रैः समुद्रायते॥

ऐसी राजसभा में कवि को अपनी कविता पढ़कर कीर्ति कमानी होती थी। हम उस युग की कविता की चर्चा करते समय इस बाह्य परिस्थिति की उपेक्षा नहीं कर सकते।

इन बातों को ध्यान में रखने से उस युग के काव्य प्रयत्नों को आसानी से समझा जा सकता है। काव्य को बहुत पहले से ही कला समझा गया था। श्री ए. वेंकटसुब्बैया ने भिन्न-भिन्न ग्रंथों से संग्रह करके 'कलाज़' नाम की एक छोटी सी पुस्तिका प्रकाशित कराई है। उक्त पुस्तिका में संगृहीत सूचियों को देखने से जान पड़ता है कि कला उन सब प्रकार की जानकारियों को कहते हैं, जिनमें थोड़ी सी चतुराई की आवश्यकता हो। सो व्याकरण, छन्द, न्याय, ज्योतिष, आदि भी कला हैं, काव्य, नाटक, आख्यायिका, समस्यापूर्ति, बिंदुमती, प्रहेलिका आदि भी कला हैं, स्त्रियों का शृंगार करना, कपड़ा रंगना, चोली सीना और सेज बिछाना भी कला है, रत्न और मोतियों का पहचानना, घोड़ा, हाथी, पुरुष, स्त्री, छाग, मेष, कुक्कुट, आदि का लक्षण जानना भी कला है, और तित्तर-बटेर लड़ाना, तोते पढ़ाना, जुआ खेलना भी कला है। प्राचीन ग्रंथों से जान पड़ता है, कि कई कलाएँ पुरुषों के योग्य समझी जाती थीं, यद्यपि कभी कभी गणिकाएँ भी उनमें उतनी ही निपुण हो जाया करती थीं, जितने पुरुष। गणित, दर्शन, युद्ध, घुड़सवारी आदि ऐसी ही कलाएँ हैं। कुछ कलाएँ विशुद्ध कामशास्त्रीय हैं। वात्स्यायन के कामसूत्र में पंचाल की कलाएँ बताई गई हैं, वे ऐसी ही हैं। परंतु स्वयं वात्स्यायन की अपनी सूची में जिन चौंसठ कलाओं की चर्चा है, उनमें लगभग एक तिहाई ऐसी हैं, जिन्हें काव्यशास्त्रीय विनोद कह सकते हैं, बाकी में कुछ तरुण सम्पतियों की विलासक्रीड़ा

में सहायक हैं, कुछ मनोविनोद के सहायक हैं और कुछ दैनिक प्रयोजनों के पूरक भी हैं। यदि पंचाल और यशोधर की बात छोड़ दी जाय तो प्राचीन ग्रंथों में प्राप्त ६४ या ७२ कलाओं में काव्यशास्त्रीय विनोदों का स्थान बहुत प्रमुख है। बाद में तो कला का अर्थ केवल कौशल ही मान लिया गया। सुप्रसिद्ध कवि क्षेमेन्दु ने अपने कलाविलास में गणिकाओं के धनापहरण के कौशलों को, कायस्थों की कुटिलता को, सुनारों की चोरी करने के कौशलों को, गवैयों के हथकंडों को, गणकों को धूर्तताओं को कला में ही गिना हैं। इसमें काव्य कला का कोई स्थान ही नहीं दिया गया। इस काल के कविजन अपने कला- कोविद मानने में गर्व अनुभव करने लगे थे और सब प्रकार के कौशलों को जानना आवश्यक समझने लगे थे। काव्य का एक कौशल हो जाना काव्य के स्वरूप प्रदान करने में निश्चय ही विशेष महत्त्व की बात है। राजसभाओं में कवि को अपने वाक्कौशल का प्रदर्शन करना पड़ता था। वहां कविता यदि वचन की वक्रभंगिता का या अलंकार-विलास का रूप धारण कर ले तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं है।

छन्द वचन व क्रिया का प्रधान सहायक हैं। ऐसा जान पड़ता है कि दीर्घकाल से केवल शब्दों को छन्द में गूंथ देने-मात्र से बहुत सी बातों को "कविता" नाम दे दिया गया है। सुना है कि जीव-विज्ञान ने बताया है मनुष्य जाति सीधी रेखा की अपेक्षा वर्तुल-वक्रिम रेखा में चलने में ज्यादा सौन्दर्य अनुभव करती है। रेतस् और कलल के संयोग से ही यह वक्र गतिप्रियता आरम्भ हो जाती है और गर्भावस्था में ही पूर्ण परिणति लाभ करती है। मनुष्य की यह वक्रिमा-प्रीति छन्द के अनुसरण के रूप में प्रकट हुई है। संसार की पुरानी से पुरानी भाषा छन्दों में ही सुरक्षित है। आदिम जातियाँ अपने समस्त अनुभव छन्दों में ही संचित करती आई हैं। गद्य मनुष्य की वैज्ञानिक मनोवृत्ति की उपज है और छन्द उसकी सहजात आनन्दिनी मनोवृत्ति की। कविवर रवीन्द्रनाथ ने लिखा है कि "वाक्य जब सीधा खड़ा रहता है तब केवल अर्थ को प्रकट करता परन्तु जब वह तिरछी भंगिमा में खड़ा होकर गतिशील हो उठता है तो साधारण अर्थ के अतिरिक्त और भी अनेक बातें प्रकाश करता है। वह अतिरिक्त वस्तु क्या है यह कहना बड़ा कठिन है क्योंकि वह वचन के अतीत है और इसी लिये अनिर्वचनीय है। हम जो कुछ देखते हैं सुनते हैं, जानते हैं, उसके साथ जब अनिर्वचनीय का योग होता है तो हम उसे 'रस' कहते हैं अर्थात् वह वस्तु जिसे हम अनुभव करते हैं पर व्याख्या द्वारा समझा नहीं सकते।।" यहाँ अनिर्वचनीय शब्द से भ्रम होने की आशंका है। अनिर्वचनीय का अर्थ अभावनीय नहीं। रवीन्द्रनाथ

ने स्वयं अपने भाव को स्पष्ट करने के लिये बताया है कि अनिर्वचनीय का अर्थ केवल यही है, कि इस वस्तु की व्याख्या करके इसे समझाया नहीं जा सकता; यह नहीं कि इसे अनुभव नहीं किया जा सकता। बल्कि वह एकमात्र अनुभव का ही विषय है। छन्द इसमें हमारी सहायता करता है क्योंकि वाणी में आवेग की गति आ जाने से हम भावावेग को प्रकाशित करने का सुयोग पाते है।

छन्द वस्तुतः एक गति है। यह समझना ठीक नहीं कि वह मात्राओं और यतियों का बन्धन है। जिस प्रकार नदी अपने दोनों किनारों से बंधकर ही वेगवती होती हैं। यदि किनारे के बंधन न हों तो प्रवाह का वेग भी न होगा। वाणी भी मात्राओं और यतियों के बंधे किनारों के भीतर से वेगवती हो उठती है। कोई आश्चर्य नहीं कि मनुष्य ने केवल छन्द को ही कविता नाम दे दिया था। छन्द के प्रकट करने से साधारण बात में भी एक ऐसी गति आती है जो मनुष्य के चित्त की अनुवर्तिनी हो उठती हैं। न जाने क्यों पुराने पंडितों ने छन्द शब्द की व्युत्पत्ति छादन से बताई है। निरुक्तकार ने कहा है छादन करने के कारण ही छन्द 'छन्दस' कहलाते हैं (७. १२)। दैवत ब्राह्मण (३. १६) के भाष्य में सायण ने भी यही मत प्रकट किया है। उनका कहना है कि वर्णों को छादन करने के कारण ही छन्द छन्द कहे जाते हैं। महामहोपाध्याय पं विधुशेखर भट्टाचार्य ने बताया है[1] कि इस प्रकार की व्याख्या का मूल कारण शायद छान्दोग्य उपनिषद् (१. ४. २) का वह मंत्र है[2] जिसमें कहा गया है कि देवता लोग मृत्यु से डरते हुए त्रयी विद्या में प्रविष्ट हुए। उन्होंने अपने आपको छन्दों से आच्छादित किया और इस प्रकार आच्छादन करने के कारण ही छन्द 'छन्द' कहे जाने लगे। यह कुछ विचित्र व्याख्या है। पर संस्कृत साहित्य में छन्द का अर्थ प्रसन्न होना भी पाया जाता है। छन्द शब्द का मूल अर्थ आनन्द देनेवाला ही हो सकता है। पं० विधुशेखर भट्टाचार्य ने छान्दोग्य के मंत्र की इस प्रकार व्याख्या करके इस अर्थ की संगति बैठाई है (जो उचित जान पड़ता है): 'देवता लोग मृत्यु से डरे हुए थे; उन्होंने वेद मंत्रों का ऐसा मधुर गान किया कि मृत्यु मुग्ध हो गई। मुग्ध होने के कारण वह उन्हें देख नहीं सकी मानों वे इस प्रकार वेद-मंत्रों

---

१. विश्व भारती पत्रिका (हिंदी) खण्ड ३, पृ० ३४-३६

२. देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशन्। ते छन्दोभिरच्छादयन् यदे-भिरच्छादयंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्।

से आच्छादित हो गये और मृत्यु के पंजों से छुटकारा पा सके।' इस व्याख्या से छन्द की मुग्धकारिणी शक्ति का आभास मिलता है और आच्छादित शब्द इसी अर्थ में लाक्षणिक भाव से प्रयुक्त जान पड़ता है। जो हो, छन्द शब्द मुग्धकारी और प्रसन्न करने वाले अर्थ में ही अधिक उपयुक्त जँचता है। छन्द के भीतर की गति ही उसे प्रसादक और मोहक बनाती है। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है कि 'मनुष्य की सत्ता में अनुभूति लोक ही वह रहस्य लोक है जहाँ बाहर के रूप जगत का सम्पूर्ण वेग अन्तर का आवेग बन जाता है और यह अन्तर का आवेग बाहर रूप ग्रहण करने को उत्सुक हो उठता है। इसीलिये वाक्य जब हमारे अनुभूति लोक के वाहन के काम में नियुक्त होता है तो उसमें गति का होना आवश्यक हो जाता है। वह अपने अर्थ से तो बाहरी घटनाओं को व्यक्त करता है किंतु गति के द्वारा आन्तरिक वेग को प्रकाशित करता है।'

केवल इतना ही नहीं, छन्द सामाजिक बन्धनों का भी वाहन है। वह केवल छन्दो-रचयिता के अन्तर के वेग को ही नहीं प्रकट करता उस वेग को दूसरे के चित्त में संचरित भी करता है। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने इस तथ्य को निपुण भाव से अनुभव किया था। संस्कृत के नाटकों में बहुत शुरू से ही छन्दोबद्ध रचना द्वारा वक्ता के भावों का आवेग श्रोता के अन्तर में संचारित करने का प्रयास देखा जाता है। उचित ढंग से छन्दों का पाठ श्रोता को उसी आवेग में ले जाता है जिसे मूल रचयिता ने स्वयं अनुभव किया था। यही कारण है कि छन्द ने मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों को दृढ़ और स्थायी बनाने में बड़ा काम किया है। राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में काव्य करने की अपेक्षा भी काव्य पाठ करने को अधिक महत्वपूर्ण माना है क्योंकि पाठ से उस सामाजिक उद्देश्य की सिद्धि होती है जो मनुष्य का सहज धर्म है। आदमी संस्कृतात्मा हो तो काव्य जैसे तैसे बना ही लेता है किंतु काव्य पाठ करना तो उसी को आता है जिसको सरस्वती सिद्ध होती है।

करोति काव्यं प्रायेण संस्कृतात्मा यथा तथा।
पठितुं वेत्ति स परं यस्य सिद्धा सरस्वती॥

सभा में तो सुन्दर काव्य बनाने की अपेक्षा सुन्दर पाठ की अधिक आवश्यकता होती है। ऐसा जान पड़ता है कि उत्तरकालिक दरबारों में काव्य पाठ का गौरव और भी बढ़ गया था। राजशेखर ने ही उस कवि को ही वाग्देवी का अत्यन्त प्रिय बताया है जो

छन्दों को इस प्रकार पढ़ सके कि रस का आस्वादन गोपालों और अनपढ़ स्त्रियों तक को मिल जाय—

आगोपालकमायोषि दास्तामेतस्य लेह्यता ।
इत्थं कविः पठन् काव्यं वाग्देव्या अति वल्लभः ॥

पृ० ३३

यह तो हुई राजसभा की बात । निस्सन्देह कवि को कीर्ति प्राप्त करने का प्रधान साधन राज-सम्मान था । पर और भी साधन थे; काव्य कला साधारण सुसंस्कृत नागरिकों के मनोविनोद की वस्तु थी । राजशेखर ने काव्य मीमांसा के आरम्भ में ही काव्य विद्या के अठारह अंगों की चर्चा की है* । उनमें एक अंग है वैनोदिक । बहुत दिनों तक पण्डितों में जल्पना-कल्पना चलती रही है कि राजशेखर के गिनाए हुए अठारह अंग काल्पनिक हैं या किसी पुरानी परंपरा के अवशेष हैं । अब भी यह जल्पना-कल्पना समाप्त नहीं हुई है । मेरा विचार है कि इस सूची को काल्पनिक नहीं मानना चाहिये । मैंने अपने मत की पुष्टि अन्यत्र की है । यहाँ उस विवाद को उठाने की कोई आवश्यकता नहीं है । प्रकृत प्रसंग वैनोदिक नामक काव्य विद्या के अंग का है । यह नाम ही विनोदों से संबंध रखता है । कामशास्त्रीय ग्रंथों में मदपान की विधियाँ, उद्यान और जलाशय आदि की क्रीड़ाएं; मुर्गे और बटेरों—लाव तित्तिरों—की लड़ाइयाँ, द्यूत क्रीड़ाएँ, यक्ष रात्रियाँ अर्थात् सुखरात्रियाँ, कौमुदी जागरण अर्थात् चांदनी रात में जाग कर क्रीड़ाएं करना आदि को "वैनोदिक" कहा है (कामसूत्र १-४) । इस अंग के प्रवर्तक का नाम राजशेखर ने कामदेव बताया है । इस पर से पंडितों ने यह अनुमान किया है कि काव्य शास्त्रीय विनोद और कामशास्त्रीय विनोद एक ही वस्तु होंगे । परन्तु

---

*काव्य मीमांसा के अठारह अंग ये हैं:—

१. काव्य रहस्य के सहस्राक्ष २. औक्तिक के उक्तिगर्भ ३. रीति निर्णय के सुवर्ण नाम ४. अनुप्रासिक के प्रचेतापन ५. यमक के चित्रांगद ६. चित्रकाव्य के भी चित्रांगद ७. शब्दश्लेष के शेष ८. वास्तव के पुलस्त्य ९. औपम्य के औपकायन १०. अतिशय के पराशर ११. अर्थश्लेष के उतथ्य १२. उभयालंकार के कुबेर १३. वैनोदिक के कामदेव १४. रूपक निरूपणीय के भरत १५. रसाधिकारिक के नंदिकेश्वर १६. दोषाधिकरण के धिषण १७. गुणोपादानिक के उपमन्यु १८. औपनिषदिक के कुचमार ।

कामदेव नामक पौराणिक देवता और काव्य विद्या के वैनोदिक अंग के प्रवर्तक कामदेव नामक आचार्य एक ही व्यक्ति होंगे ऐसा मानने की कोई जरूरत नहीं है। राजा भोज के सरस्वती कठांभरण (५-६३-६६) से यह अनुमान और भी पुष्ट हुआ है कि कामशास्त्रीय उद्दीपक क्रियाकलाप ही वस्तुतः वैनोदिक समझे जाते थे। शारदातनय के भाव प्रकाश में नाना ऋतुओं के लिये जिस प्रकार की उद्दीयन-सामग्री का वर्णन है वह एक विशाल परम्परा का सूचक है जो रीतिकालीन कवि ग्वाल और पद्माकर तक अविच्छिन्न रूप में बढ़ती चली आई है। यहाँ तक कह रखना आवश्यक है कि मध्य युग के काव्य को केवल काव्यशास्त्र ने ही नहीं कामशास्त्र ने भी प्रभावित किया है। कारण की विवेचना हम अभी करेंगे। इसलिये काव्यशास्त्रोय ग्रंथों में कामशास्त्रीय विनोदों की चर्चा कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। कादम्बरी (कथामुख) में बाणभट्ट ने शूद्रक वर्णना के प्रसंग में कुछ ऐसे काव्य विनोदों का उल्लेख किया है जिनकी चर्चा करने से राजा 'संभोग पराङ्मुख' हो सका था अर्थात् कामशास्त्रीय विनोदों से चित्त को मुक्त कर सका था। बाणभट्ट के बताये हुए इन विनोदों में वीणा मृदंग आदि का बजाना है, विद्वान मण्डली में काव्यादि का पाठ है, आख्यायिका है, कथा है, आलेख्य कर्म है, अक्षर-च्युतक है, बिन्दुमती है, मात्रा च्युतक है, गूढ़ चतुर्थपाद प्रहेलिका है और ऐसे ही अनेक काव्यशास्त्रोय विनोद है।

इस प्रसंग में मनोरंजक बात यह है कि राजशेखर ने रसाधिकारिक के प्रवर्तक आचार्य का नाम नन्दिकेश्वर बताया है। काव्य-शास्त्र का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि इस सूत्र के प्रवर्तक आचार्य भरत हैं और सभी आलंकारिकों ने 'रस' की व्याख्या भरत के सूत्र को ही केन्द्र मान कर की है। वस्तुतः यदि काव्य-शास्त्र की परम्परा को देखा जाय तो इसके प्रधान आचार्य भरत को ही माना जाना चाहिये राजशेखर ने उन्हें 'रूपक-विरूपदारिय' नामक काव्यांग का प्रवर्तक माना है। यह ठीक ही है। पर रूपक-निरूपण के सिलसिले में अब तक के जाने हुए आदि आचार्य भरत ही है। इन्होंने (ना० शा० ६-१०) रस, भाव, अभिनय, वृत्ति-प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोदय गान और रंगको लेकर अपना बृहत शास्त्र रचा था। फिर भी राजशेखर ने उन्हें रस का प्रवर्तक आचार्य नहीं माना। इसका कुछ-न-कुछ कारण होना चाहिये। भरत ने नाट्यशास्त्र के षष्ठ अध्याय में (१५-१६) आठ नाट्य रसों का उल्लेख करते हुए कहा है कि इन आठ नाट्य रसों को (अर्थात् शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत-बीभत्स को)

महात्मा द्रुहिण ने पहिले पहल बताया था। यहाँ द्रुहिण ब्रह्मा भी हो सकते हैं या फिर इसी नाम के कोई और भी आचार्य हो सकते हैं। उपलब्ध नाट्य-शास्त्र के अनुसार ये ब्रह्मा ही थे। परन्तु इतना निश्चित है कि भरत को रस-परम्परा अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से ही प्राप्त हुई थी। भारतीय नाट्य-शास्त्र के षष्ठ और सप्तम अध्यायों में रसों और भावों की व्याख्या है। इन दो अध्यायों में जितने आनुवंश्य या परम्परागत श्लोक उद्धृत हैं उतने और किसी अध्याय में नहीं हैं। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि उन्होंने इन अध्यायों की सामग्री किसी पूर्ववर्ती आचार्य के ग्रंथ से ली है।

वह आचार्य कौन थे ? राजशेखर के कहने से लगता है कि उनका नाम नन्दिकेश्वर था। नन्दिकेवश्वर का नाम नाना सूत्रों से हमारे सामने आया है। भिन्न-भिन्न ग्रंथों में कभी उन्हें संगीत का, कभी काम-शास्त्र का, कभी तंत्र का और कभी अभिनय का आचार्य माना गया है। वात्सायन के काम सूत्र के आरम्भ में ही बताया गया है कि प्रजापति ने प्रजाओं की सृष्टि करके उनकी स्थिति के लिये धर्म, अर्थ और काम इन त्रिवर्गों के साधन के लिये एक लाख अध्यायों का एक ग्रंथ रचा। उसके एक-एक वर्ग को अलग करके क्रमशः मनु बृहस्पति और महादेवानुचर नन्दी ने धर्म अर्थ और काम के विधायक ग्रंथों की रचना की। नन्दी का ग्रंथ हजार अध्यायों का था। उसे औद्दालकि श्वेतकेतु ने पाँच सौ अध्यायों में संक्षिप्त किया और उसे भी वाभ्रव्य पांचाल ने डेढ़ सौ अध्यायों में संक्षेप किया। इस प्रकार नन्दी या नन्दिकेश्वर काम शास्त्र के प्रवर्तक आचार्य हैं। "पंचसायक" के नन्दीश्वर और 'रति-रहस्य' के नन्दिकेश्वर सम्भवतः यही हैं। काम सूत्र की जय-मंगला टीका में कहा गया है कि महादेव और पार्वती के सहस्र वर्ष व्यापी आनन्दोपभोग को नन्दी ने द्वार पर से देखा था और इसी लिये वे कामशास्त्र के प्रवचन कर सके थे। इससे जान पड़ता है नन्दिकेश्वर या नन्दी महादेव के अनुचर देवता-विशेष का ही नाम है, किसी मानव आचार्य का नहीं। पर मध्य युग में ऐसे अनेक आचार्यों को देवता के साथ अभिन्न समझ लिया गया है। ऐसा जान पड़ता है कि बहुत प्राचीन काल में नंदी या नन्दिकेश्वर नाम के कोई शास्त्रकार आचार्य अवश्य हुए थे। नन्दिकेश्वर की लिखी एक अभिनय संबंधी पुस्तिका भी प्राप्त हुई थी। यह पुस्तक सन् १८६४ में पूना से प्रकाशित हुई थी, और इधर हाल में डा० मनोमोहन घोष ने नये सिरे से इसका उत्तम सम्पादित संस्करण प्रकाशित कराया है। पुस्तक का नाम 'अभिनय दर्पण' है, इसमें हाथ पैर मुख दृष्टि आदि के अभिनयों की मुद्रा और उनका विनियोग बताया गया है। वेबर के

"संस्कृत साहित्य के इतिहास" में नंदिकेश्वर की लिखी बताई जाने वाली एक संगीत विषयक पुस्तक का भी पता चलता है। इसका नाम है 'नन्दिकेश्वर मततालाध्याय'। इस प्रकार नन्दिकेश्वर का तीन विषयों के साथ सम्बद्ध है गान, नाच और कामशास्त्र। कुछ पंडितों का विश्वास है कि काम-शास्त्रीय आचार्य नन्दिकेश्वर ही राजशेखर द्वारा अभिप्रेत 'रसाधिकरण' के आचार्य हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जब तक नाट्यशास्त्र में रसाधिकरण निपुण भाव से गूंथ नहीं दिया गया था तब तक 'रस' शब्द का अर्थ शृंगार रस ही था। भरत जब कहते हैं कि नाट्यशास्त्र में आठ रस होते हैं तो साधारणतः इसका अर्थ यह समझा जाता है कि काव्य में आठ से अधिक रस होते हैं। परन्तु ऊपर की चर्चा को ध्यान में रखा जाय तो इस कथन का अर्थ यह भी हो सकता है कि और शास्त्रों में रस चाहे एक ही हो पर नाट्य में आठ होते हैं। ऐसा अर्थ समझने के पक्ष में प्रबल युक्ति यह है कि काव्य विवेचना में बहुत बाद में चलकर रसों को अन्तर्भुक्त किया गया है। प्राचीन आचार्यों में दण्डी और भामह रस की चर्चा करते ही न हों ऐसा नहीं है पर वे उसे स्वभावोक्ति या वक्रोक्ति से अधिक महत्त्व नहीं देते। फिर ऐसा एक भी काव्य का विवेचक आलंकारिक नहीं है जो भरत के पहले हुआ हो। सब पर भरत का ही प्रभाव है। ऐसी हालत में यह कैसे मान लिया जा सकता है जि भरत ने काव्य के रसों को दृष्टि में रखकर ही लिखा था कि "अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।" जब काव्य के नौ या दस रस उनके सामने थे ही नहीं तो निश्चय ही किसी और शास्त्र के 'रस' से नाट्य-रस को अलग करने के लिये उन्होंने वह बात लिखी थी। यह रस क्या था ? संभवतः यही नन्दिकेश्वर द्वारा प्राचारित रस राज शृंगार था। ऐसा जान पड़ता है कि साधारण रूप में रस का अर्थ एक मात्र शृंगार ही समझने की परम्परा कभी लुप्त नहीं हुई। बाणभट्ट ने कादम्बरी में 'रसे न शाय्या' स्वयमभ्युपागता' में 'रस' का एक अर्थ शृंगार ही समझा था।

यद्यपि नाट्यशास्त्र के प्रभाव वश रसों की संख्या नौ मान ली गई थी परन्तु समूचे मध्ययुगीन गीत काव्य साहित्य का यदि विश्लेषण किया जाय तो निस्सन्देह शृंगार रस की व्यापकता दिखाई देगी। धर्मशास्त्र में कहीं 'काव्यालापांश्च वर्जयेत्' कहकर काव्यालाप का निषेध किया गया है। मल्लिनाथ ने अपनी टीकाओं में बतलाया है कि इस वाक्य में 'काव्य' शब्द का अर्थ असत्काव्य है। ऐसा जान पड़ता है कि धर्म शास्त्रकार ने काव्यालाप में शृंगार का बाहुल्य और शृंगार में भी समाज-विरोधी प्रेम आदि पर

अधिक झुकाव देखकर ही ऐसा निर्णय किया होगा। बहुत से कवियों ने और रस शास्त्रियों ने निःसंकोच स्वीकर किया है, कि शृंगार ही एक मात्र रस है। यद्यपि 'सरस्वती कंठाभरण' में भोजराज ने दस रस माने हैं पर शृंगार प्रकाश में उन्होंने एक मात्र शृंगार को ही मुख्य रस माना है १—

शृंगार वीर करुणाद्भुत रौद्र हास्य वीभत्स वत्सल भयानक शान्त नाम्नः
आमासिषुर्दश स्मान् सुधियो वयं तु शृंगार मेव रसनाद्रस मामनामः ॥

शृंगार प्रकाश. १.

यह परम्परा रीतिकाल में ग्वाल पद्माकर आदि कवियों तक सटीक चली आई है। मध्ययुग में कविका अधिक ध्यान इस रस की ओर ही था।

काव्यालोचना के ग्रंथों को पढ़ने से हमारी धारणा यह बनती है कि नाटक में ही पहले रस की आवश्यकता अनुभव की गई थी। बाद में मुक्तकों में भी रस की विवेचना जरूरी समझी जाने लगी। मध्ययुग की इस सरस कविता को समझने के लिये वास्तविक या कल्पित नायक नायिकायें मन में अवश्य होनी चाहिए नहीं तो रस बोध संभव नहीं होगा। प्रायः ही टीकाकार लोग बता देते हैं कि यह श्लोक किस विशेष परिस्थित में किस विशिष्ट बोद्धव्य को सामने रखकर किस विशिष्ट वक्ता ने बताया है। अगर ऐसा न किया जाय तो अनेक सुन्दर श्लोकों से शृंगार रस का का अनुभव करना संभव

---

१ शारदातनय का भाव-प्रकाश, शिंगभूपाल का रसार्णव, भानुदत्त की रसमंजरी और रसतरंगिणी भी शृंगाररस की महिमा के प्रचारक ग्रंथ हैं। हिन्दी काव्य में केशवदास की रसिक प्रिया, तोष की सुधानिधि चिन्तामणि का कविकुल कल्पतरु, मतिराम का रसराज रसलीन के रस प्रबोध और अंग-दर्पण, देव की प्रेमचन्द्रिका और रस-विलास, भिखारीदास के रसशृंगार और शृंगारनिर्णय और पद्माकार के जगद्विनोद में यही परम्परा चलती आयी है। देव ने कहा है:

भूलि कहत नव रस सुकवि सकल मूल शृंगार।
जो संपति दंपतिन की, जाको जग बिस्तार॥
विमल सुद्ध शृंगार रस देव अकास अनन्त।
उड़ि उड़ि खग ज्यों और रस, बिवस न पावत अन्त॥

नहीं। वाग्देवतावतार मम्मट भट्ट ने काव्य-प्रकाश के आरम्भ में ही यह सुन्दर कविता उद्धृत है।

उअ णिच्चल-णिप्फन्दा भिसिणीपत्तंमि रेहइ बाचाआ।
णिम्मल मरगअ भाअण जी ट्ठिआ संख सुत्तिव्व

यदि व्याख्याकार यह बता न दे कि दो गाढ़ अनुरागी तरुण युगल में से एक एक को यह मधुर वर्णन सुना कर कुछ इशारा करना चाहता है तब तक यह व्यंगार्थ निकालना कठिन ही है कि इससे स्थान की निर्जनता और रमणयोग्यता ध्वनित होती हैं। निर्जनता ध्वनित अवश्य होती है। आज का सहृदय शायद इस मनोहर दृश्य और उससे ध्वनित निस्तब्ध शान्त वातावरण का समाचार पाकर ही गद्गद हो जाता। जापान में एक प्रकार की कविता होती है जो बहुत थोड़े शब्दों में कोई वस्तु ध्वनित करती है। उसमें की एक कविता कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने एक लेख में उद्धृत की है। कविता इस प्रकार है :

पुराना तालाब,
मेढक का उछलना
छप।

कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इसकी आलोचना करते हुए लिखा है—"बस, अधिक की जरूरत नहीं, जापानी पाठक का मन आखों से भरा है। पुराना तालाब बहुत दिनों से परित्यक्त हैं, अतएव निस्तब्ध अन्धकार! उसी में एक मेढक उछलता है। उसकी आवाज सुनाई दे जाती है। सुनाई दे गई इसी से समझा जा सकता है कि तालाब में कैसी निस्तब्ध नीरवता है। इस पुराने तालाब का चित्र किस प्रकार मन में खींच लेना होगा इसी की ओर कवि ने इशारा कर दिया और बस! इससे अधिक अनावश्यक है।

इस कविता के साथ ऊपर की प्राकृत कविता की तुलना की जा सकती है। उसमें जिस निस्तब्धता और शान्ति की आभास मिलता है वह शब्दों की कमखर्ची के कौशल से सूना-सूना नहीं लग रहा। निश्चल निष्पंद बलाका जो मरकत की थाली में रखी हुई शंख शुक्ति के समान पाठक को रूप सौंदर्य से आकृष्ट करती है, शोभा, शालीनता और सरसता का विचित्र वातावरण प्रस्तुत करती है। पाठक केवल शोभा के निस्तब्ध सरोवर

के किनारे से लौट नहीं आता और भी आगे बढ़ता है। कहना चाहिये कि प्राचीन भारतीय सहृदय की आंखें मन से भरी होती थीं—ठीक जापनी पाठक से उलटा! अगर न होता तो बिहारी के इस मनोरम दोहे के लिये यह सोचने की उसे आवश्यतता न होती कि किस सखी ने किस मनोभाव वाली सखी से किस उद्देश्य से यह दोहा कहा था—

छकि रसाल-सौरभ सने, मधुर माधुरी-गंध।
ठौर ठौर झौंरत झंपत भौंर-झौंर मधु-अंध॥

जिस पाठक का मन आंखों से भरा है वह इसमें न जाने कितना सौन्दर्य देखेगा परन्तु जिसकी आंखें मन से ही लबालब भरी हैं वह कुछ और ही कह उठेगा।

लेकिन आधुनिक पाठक न यह है, न वह हैं। उसका मन बुद्धि से भरा है और इसीलिए वह हर काव्यार्थ को बुद्धि की तराजू पर तौलता है। भाव वेग को वह एकदम तो कैसे छोड़ सकता है, पर उससे चालित होने में वह आधुनिकता का तिरस्कार देखता है। वह रस की अनुभूति के लिए काल्पनिक नर नारियों की सृष्टि नहीं करता, अपने संचित अनुभवों का ही प्रयोग करता है। नितान्त आधुनिक काल में इस अवस्था में भी परिवर्तन हुआ है। पाठक आंख मन से नहीं, बुद्धि से नहीं और सूक्ष्मतर आंखों से भर गया है। वह किसी भी सरस वस्तु की वर्णना देखकर उसके पीछे खड़े शोषक-सम्प्रदाय को देखता है, शोषकों के पीछे खड़ी तीव्र संघर्षमयी वर्ग-विषमता को देखता है और उसे भी भेद कर और भी न जाने क्या क्या देखने लगता है। उसके लिए काव्य आनन्द नहीं देता, बेचैनी पैदा करता है। आखों से जब आंख भर गयी हो तो बेचैनी के सिवा और क्या संभव है। पुराना हिन्दी कवि दूसरे रास्ते चलकर इस सत्य तक पहुँचा था—

नैक-सी कंकरी जाके परै सु तो पीर तैं नैकहुं धीर धरै ना।
कैसे परे कल एरी भटू, जब आंखि में आंखि परै निकरै ना।

कम से कम समय में ज्यादा-से-ज्यादा पढ़ लेने की प्रवृत्ति आज-कल बहुत प्रबल हो उठी है। इसी लिए काव्य को रस लेकर झूम झूम कर पढ़ने की फुरसत किसी को नहीं है। अपनी जल्दबाजी को भी आधुनिक पाठक नाना युक्तितर्कों द्वारा उचित समझने का भाव करने लगा है। साहित्य में जीवन कीं इस दौड़-धूप के अनुकूल संवेदना-संचारक तत्व खोजना इसी औचित्य-स्थापिनो मनोबृत्ति सबूत है। इस मनोबृत्ति ने काव्यालोच

के क्षेत्र में नये नये शब्दों की सृष्टि की है। जब जब आलोचक प्रौढ़ और जबर्दस्त हुआ है तब तब वह कवि को अपने इशारे पर नचा लेने में समर्थ हो गया है। काव्य की कारीगरी की विवेचना गौण हो गयी है, उसके मर्मार्थ का विचार ही प्रधान हो उठा है। यह तो भुला ही दिया गया है कि काव्य का मर्मार्थ काव्यों को बार बार पढ़ने और काव्य की कारीगरी को समझने के अभ्यास से समझने में आता है। केवल काव्य ही नहीं जीवन का अनुभव भी सहृदय को पर्याप्त मात्रा में होनी चाहिए। परन्तु जो बात सबसे अधिक उपेक्षित हुई है वह यह है कि काव्य में साधारण मनुष्य को संकीर्णता से ऊपर उठाने की शक्ति होनी चाहिये और दुर्जन को सुजन बनाने की शक्ति होनी चाहिये। काव्य केवल कौशल नहीं है। वह मनुष्य को पशु-सामान्य धरातल से ऊपर उठाकर मनुष्य के उच्चासन पर बैठाने का साधन भी है।

प्राचीन काल में काव्य के गुण-दोष विवेचक अनेक ग्रंथ लिखे गये हैं पर यह सर्वत्र स्वीकार किया गया है कि सहृदय ही काव्य के उत्कर्ष अपकर्ष का निर्णय कर सकता है। अभिनवगुप्त ने बताया है कि सहृदय वह व्यक्ति होता है, जिसके मनरूपी मुकुर में—मनोमुकुर जो काव्यानुशीलन से स्वच्छ हो गया होता है - वर्णनीय विषय के साथ तन्मय हो जाने की योग्यता होती है। ऐसे ही हृदय-संवाद के भाजन रसिक जन सहृदय कहलाते हैं। पर हृदय-संवाद का भाजन होना क्या मामूली तप का फल है? केवल शब्द और अर्थ की निरुक्ति जानने मात्र से यह दुर्लभ गुण नहीं प्राप्त हो जाता। कवि का अभिप्राय सब समय शब्दों द्वारा प्रकट ही नहीं हो जाता। कभी कभी वह एकदम शब्दगोचर होता ही नहीं। उसके शब्दों में जो आर्द्रता होती है उसे सब नहीं समझ पाते। प्रसिद्ध कवियत्री विज्जका देवी ने उन सहृदयों को श्रद्धापूर्वक अपनी प्रणति निवेदन की थी जो इस अशब्दगोचर अभिप्राय को सरस पदों के भीतर से निकाल लेते हैं और रोमांच-पुलकित होकर गद्गद भाव से इस प्रकार काव्य पाठ करते हैं कि कंठरोध हो उठता है—

कवेरभिप्रायमशब्दगोचरं स्फुरन्तमार्द्रेषु पदेषु केवलम्
वदद्भिरङ्गैः कृतरोमाविक्रियैर्जनस्य तूष्णींभवतोऽयमञ्जलिः ॥

प्रसिद्ध आलंकारिक राजानक रुय्यक ने 'सहृदय-हृदय-लीला' नामक अपनी पुस्तक में सहृदय के जो लक्षण दिये हैं उनसे पता चलता है कि सहृदय केवल काव्य के गुणों का जानकार नहीं होता वह प्रत्यक्ष मनुष्य के गुण को जानता है। उसे अपने काल के सुसंस्कृत मनुष्य के सौन्दर्य से परिचित होना चाहिये। सौन्दर्य से परिचिय होना चाहिये।

सौन्दर्य भीतर का भी होना चाहिये और बाहर का भी। शोभा के निधायक दस गुण होते हैं जो पूर्वजन्म के पुण्य से प्राप्त होते हैं। सहृदय को ये गुण प्राप्त होते हैं। वह उनका आदर कर सकता है। क्योंकि शोभा के समुत्पादक को ही गुण कहते हैं, समुद्दीपक को ही अलंकार कहते हैं, अनुप्राणक को ही जीवित कहते हैं और व्यंजन को ही परिकर कहते हैं। गुण-अलंकार-जीवित और परिकर के ज्ञान से ही शोभा का आनन्द लिया जा सकता है। ये एक दूसरे के उपकारक होते हैं और परस्पर के अनुग्राहक भी होते है। मैंने अपनी पुस्तक "प्राचीन भारत का कला-विलास" में इसकी चर्चा विस्तार के साथ की है यहां उसकी विस्तारपूर्वक चर्चा आवश्यक नहीं है। ऐसा सहृदय ही काव्य को समझ सकता है। फिर भी सुभाषितों का पाठक इस बात को भूल नहीं सकता कि कवि लोग जहाँ सहृदय को अपने काव्य का प्रधान श्रोता मानते थे वहाँ दुर्जनों से बराबर डरते रहते थे, मत्सरियों और चुगलखोरियों की चिन्ता उन्हें बराबर सताती रहती थी। कवियों ने इन मत्सरियों और दुर्जनों तथा निन्दकों की खूब खबर ली है। वल्लभ देव ने ऐसी कविताओं से चिढ़कर कहा था कि यही क्यों कहते हो कि सहृदय ही काव्य को समझ सकता है। काव्य में भी तो गुण होना चाहिये। ऐसा गुण जो चुगुलखोर और दुर्जनों को भी सहृदय बना दे। जिस काव्य को सुनकर मात्सर्याहत चेता व्यक्ति रोमांच कंटकित न हो उठे, उसका सिर अपने आप न हिल उठे, उसके कपोल देश पर लालिमा न दौड़ पड़े उसकी आंखों में आंसू न आ जांय और उसकी वाणी अध्यारोपित वस्तु के कीर्तन में तन्मय न हो उठे, तो वह काव्य भी भला कोई काव्य है!—

तत् किं काव्यमनल्पपीतमधु व त्कुर्यान्ति यद्दङ्गतं।
मात्सर्यावृतचेतसां रस वशादत्युङ्गतिं रोमसु ।
कम्पं मूर्ध्नि कपोलयुग्ममरुणं वाष्पाविले लोचने
अध्यारोपित वस्तु कीर्तनपरं वाचः करालबंनम्।

यह बहुत महत्व की बात है। जीवन के संपूर्ण साररसों से जो काव्य पुष्ट हुआ है वह जीवन की भांति ही क्रियाशील, सर्जक और निरन्तर विकसमान वस्तु हो, यही वांञ्छनीय है। काव्य से यह आशा करना अनुचित नहीं है कि वह क्षुद्र संकीर्ण स्वार्थों से बद्ध जीव में भी उत्तम भाव संचारित करे। जिससे केवल थोड़े से सुसंस्कृत लोग ही आनन्द अनुभव कर सकें उस काव्य में कोई ऐसी त्रुटि होगी जो गुण के नाम पर चल रही है। काव्य सर्जक है, वह मनुष्य की दुनिया में नये भावों की सृष्टि करके विधाता

के भाव जगत् में वृद्धि करता आ रहा है। नाना भांति के ऊपरी और परिवर्तन धर्मी कल्पनाओं को मनुष्य का मौलिक सत्य मान लेने से सभी सच्चे काव्य सभी सच्चे सहृदयों को प्रेरणा नहीं दे पाते। लोक में इन कल्पनाओं को 'संस्कार' कहा जाता है। संस्कार देशगत हैं, जातिगत हैं, कालगत हैं। मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ साधना साहित्य के रूप में प्रकट हुई है। उसको यथार्थ रूप से हृदयंगम करने के लिए इन संस्कारों से पर उठने की शिक्षा मिलनी चाहिये। भारतीय अलंकार शास्त्रों की चरितार्थता इसी में है कि उन्होंने काव्यार्थ को समझने के लिए वैज्ञानिक मान निश्चय करने का मार्ग दिखाया है। यदि वे संस्कार बन कर पाठक को देश और काल के बाहर जाने में बाधा दें तो उनकी उपयोगिता नहीं रहेगी। पर मेरा निश्चित मत है कि हमारे अंलकारशास्त्र रस-बोध में सहायक हैं, बाधक नहीं। हमें आज उन्हें प्रेरणास्त्रोत के रूप में स्वीकार कर आगे बढ़ना चाहिए। वे पाठक को आगे बढ़ने से रोक कर यह नहीं कहते कि इसके आगे जाना मना है। वे काव्यार्थ में प्रवेश कराने का मार्ग दिखाते हैं। उन्हें इसी रूप में ग्रहण करना चाहिए। भारतीय मनीषा के सर्वोत्तम अंगों में से एक का प्रतिनिधित्व करने वाले इन ग्रन्थों को योंहीं नहीं छोड़ देना चाहिए। नई भारतीय मनीषा इन्हे प्रेरणास्त्रोत मान कर चरितार्थ होगी। ज्ञान का मार्ग रुद्ध नहीं हो गया है, मनुष्य की जिज्ञासा शान्त नहीं हो गई है, सहृदय की अन्तिम सीमा निश्चित नहीं हो चुकी है—अभी और भी है, बहुत कुछ जानना है, बहुत कुछ समझना है, बहुत कुछ हृदयंगम करना है। हमारे शास्त्र मनुष्य की अपूर्व बुद्धि की विजय पताका हैं, वे और भी आगे बढ़ने का साहस देते हैं, निश्चित विजय का उत्साह संचारित करते हैं और मनुष्य की क्रियात्मक विकसन परम्परा के प्रमाण देते हैं।

[२]

मित्रो,

अपने प्रथम व्याख्यान में मैंने दिखाया था कि उत्तरकालीन संस्कृत लक्षण ग्रंथ किस विशेष परिस्थिति में बने थे और उस युग के काव्य में उक्ति-वैचित्र्य और वचन-वक्रिमा को क्यों इतना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया था। मैंने यह भी बताने का प्रयत्न किया था कि आधुनिक युग में पाठक भी बदल गया है और कवि भी बदला है। यन्त्र युग की समस्याएँ और तरह की हैं, और उनके समाधान के रास्ते भी हू-ब-हू वहीं नहीं हैं जो पूर्ववर्ती युग के थे। जमाना बदल गया है, हमारी आवश्यकताएँ बदल गई हैं, हमारी रहन-सहन बदल गई हैं और इन सब के साथ ही साथ हमारा दृष्टिकोण भी बदल गया है। परन्तु संस्कृत के लक्षण ग्रंथों ने जिस आदर्श का प्रचार किया वह परवर्ती स्तब्ध वृत्तिक मध्ययुग में बराबर प्रेरणा देता रहा। हमारे विद्यार्थी के चित्त में ये लक्षण ग्रंथ और काव्य एक विशेष प्रकार का संस्कार पैदा करते हैं। आधुनिक युग के सब प्रयत्न उस संस्कार के द्वारा ठीक ठीक समझे नहीं जा सकते। काव्य में वैयक्तिक स्वाधीनता का प्रवेश हुआ है पुरानी कर्म व्यवस्था का निर्गमन हुआ है, गोप वन्धुओं की प्रेम लीलाओं ने कवि की आंतरिक निजी अनुभूतियों के लिए स्थान छोड़ दिया है, छन्दों में स्वच्छन्दता आई है और सबसे बड़ी बात यह हुई है कि उपन्यास, कहानी आदि नये नये साहित्यांग पैदा हुए हैं जो पाठक को काव्य से अधिक प्रिय हो गए हैं। छापे के मशीनों ने उनका उत्पादन बढ़ाया है और यातायात के विकसित साधनों ने उन्हें सर्वजन-सुलभ बनाया है। कवि के लिये कीर्ति पाने का रास्ता राजसभा में काव्यपाठ करना और प्रतिद्वन्दो को पछाड़ना नहीं रह गया है, छपे हुए अक्षरों के मौन पाठकों के दिल में घर बनाना है। काव्य का क्षेत्र संकुचित हो गया है, उपन्यासों और कहानियों का क्षेत्र विस्तृत हो गया है। काव्य को न तो अब वाक्पाटव की कला माना जाता है न गोष्ठी-विहारों में मनो-रंजन करने का साधन। भरत से भी पहले से शृंगार को मुख्य रस माना जाता था, वह आज भी कवि को स्वीकृत है, परन्तु रस ध्वनि की अपेक्षा वस्तु ध्वनि के आस्वादन में पाठक को कम आनन्द नहीं मिलता और इसीलिए वस्तुध्वनि का जोर बढ़ रहा है। उत्तर

काल का संस्कृत कवि राजदरबार की ओर अधिकाधिक झुकता गया और इसका फल यह हुआ कि कविता में वाक्पटुता को ही अधिक स्थान मिलने लगा और वृहत्तर सामाजिक चेतना की ओर ध्यान नहीं दिया गया। कविता को सहज और शक्तिशाली अन्तर्धारा सामन्त सभ्यता की वालुका के नीचे अविरल भाव से बहती गई। अन्त में नतीजा यह हुआ कि वास्तविक जीवन्त रस धारा कबीर और सूरदास और तुलसीदास को आश्रय करके अत्यन्त स्वस्थ और मनोरम रूप में प्रकट हुई। संस्कृत के लक्षण ग्रंथों की प्रेरणा भी जीती रही पर वह महत्वहीन हो गई।

परन्तु मुझे खेद है कि मैंने अपने उस वक्तव्य में अपने साहित्य की दुर्बलता की ओर ही आपका ध्यान अधिक आकृष्ट किया है। मेरा उद्देश्य अपने साहित्य के अत्यन्त महिमामय रूप को ओर से आंख मूंदना नहीं था, मैं केवल उस तथ्य की ओर आपकी दृष्टि फेरना चाहता था जिनकी यदि ठीक ठीक जानकारी न हो और जिन्हें यदि विवेक पूर्वक न ग्रहण किया जाय तो वे हमारे विद्यार्थियों में काव्य के उपकरणों को ही काव्य समझने की आदत डाल देंगे और डाल देते हैं। फिर भी मुझे इस बात से दुख हो रहा है कि हमने अपने देश के महाकवियों द्वारा निरन्तर उद्घाटित और प्रचारित पूर्ण सत्य की बात न करके, दरबारी कवियों द्वारा प्रचारित खण्ड सत्य पर ही अबतक आपकी दृष्टि को उलझा रखा था। मैं भी जानता हूँ और आप भी जानते हैं कि हमारे पुराने साहित्य का चरम लक्ष्य खण्ड सत्य कभी भी नहीं रहा है। वाल्मीकि या व्यास, या कालिदास मनुष्य की महिमा के प्रचारक थे, उसकी दुर्बलता के नहीं और न उसकी उस सहजात पशुसुलभ मनोवृत्ति के जो थोड़ी सी उत्तेजना पाते ही झनझना उठती है। भारतीय साहित्य ने "जीव शास्त्रीय" समझी जाने वाली उस लालसा को प्राधान्य नहीं दिया जो समस्त जीवों की स्थिति के प्रयोजन की पूर्ति करती है। इस लालसा से अतिरिक्त, प्रयोजनातीत, सत्य को ही उन्होंने मनुष्य का अपना 'सत्य' समझा था। प्रेम संयम और तप से उत्पन्न होता है, भक्ति साधना से प्राप्त होती है, श्रद्धा के लिए अभ्यास और निष्ठा की जरूरत होती है, ये पशुसुलभ आदिय मनोवृत्तियों की उपज नहीं हैं। वाल्मीकि को जब छन्दः— सरस्वती का साक्षात्कार हुआ तो उन्हें सबसे बड़ी चिंता यह हुई कि किस प्रकार इसमें महान् चरित्र की अवतारणा की जाय—ऐसा महान् चरित्र, जो विपत्ति में म्लान न हो, सम्पत्ति में उतरा न उठे, विजय दर्प के समय क्षमा करना न भूले, शक्ति पाने पर सदय होने में न चूके और जीवन के उपरले स्तर की सफलताओं से अभिभूत होकर जीवन के गंभीर तल में बहने वाली चरितार्थता की धारा को न भूल जाय। कालिदास ने मदन-वैभव और अकाल-वसन्त की

समस्त आकर्षक मोहकता को वैराग्य के एक भ्रूभङ्ग में धूलिसात् करा दिया है और फिर तपस्या की आंच में तपाकर प्रेम के कुन्दन को चमकाया है। सीता, पार्वती और राधिका भारतीय कवि की आदर्श कल्पना हैं। सबको तपना पड़ा है, सबको दुःख और वेदना के मरुकान्तार को पार करना पड़ा है और तब जाकर भारतवर्ष के सहृदय ने उन्हें देवता के आसन पर बैठाया है। संयम बड़ी वस्तु है, तपस्या बड़ी वस्तु है। क्षणिक आवेग, सामयिक उन्माद और विनिवेदन तबतक भारतीय कवि के चित्त को मुग्ध नहीं करते जब तक वे संयम तप और भक्ति में स्नान करके पवित्र न हो गए हों। दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रथम मिलन केवल खण्ड सत्य था। कवि ने उस अभिशप्त प्रीति को विजयी नहीं होने दिया है। विजयी हुआ है वह प्रेम जो जीवन रस में पूरी तरह परिपक्व होकर निकला है। इस अपूर्व मोहक लोक में आपको न लेजाकर मैं जो खण्ड सत्य के दूहों में भटकता रहा वह यद्यपि अकारण नहीं था तो भी मेरे मन में यह कचट रह गई है कि मैंने एकांकी परिचय देकर अपराध किया है। भारतवर्ष के कवि ने जिस सौंदर्य लक्ष्मी की सृष्टि की है वह अपूर्व है। जिन्होंने इस देश में जन्म लिया है वे यदि इस पर मुग्ध हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है पर जो लोग इस देश से हजारों कोस दूर रहते हैं और संयोग से इस सौंदर्य लक्ष्मी की एक हल्की झांकी पा गए हैं वे भी इसे देखकर कृत कृत्य हुए हैं; उन्हें भी अपनी आंखों की सफलता पर गर्व हुआ है और वे इसे अधिकाधिक पा सकने में प्रयत्नशीन हुए हैं। कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक के पुरुरवा की भांति इस महनीयरूपा सौंदर्य लक्ष्मी को देखकर कहने की इच्छा होती है:

यदृच्छया त्व सकृदप्यवन्ध्ययोः
पथि स्थिता सुन्दरि· यस्य नेत्रयोः।
त्वया विना सोऽपि समुत्सको भवेत्
सखीजनस्ते किमुतार्द्र सौहृदः ॥

संस्कार बड़े प्रबल होते हैं वे विवेक को बराबर दबोचते रहते हैं। भारतीय सहृदय एक प्रकार के संस्कारों में पलता है और दूसरे देश के सहृदय दूसरे प्रकार के। जो काव्य लक्ष्मी इन संस्कारों को दबा सके उसमें प्राण शक्ति का अपूर्व विलास मानना चाहिए। कभी कभी अच्छे सहृदय भी अपने वद्धमूल संस्कारों से काव्य सौंदर्य को परखने का प्रयत्न करते हैं और द्रष्टव्य को छोटा करके देखने में रस पाते हैं। एक उदाहरण दूँ। आप सभी जानते हैं कि दीर्घकाल से भारतवर्ष इस बात में विश्वास करता रहा है कि किए का फल जरूर भोगना पड़ता है। इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में उसे अपने

कर्म का फल भोगना ही पड़ेगा। इससे बच सकना संभव नहीं है। इस जन्म में जो कुछ भी मनुष्य ने पाया है वह पूर्व जन्म के पुण्य या पाप का परिणाम है और इस जन्म में जो पुण्य या पाप करेगा उसे भी उसको भोगना ही पड़ेगा। इस विश्वास का प्रभाव भारतवर्ष के साहित्य पर पड़ा है। इस साहित्य में वह वस्तु एकदम नहीं मिलेगी जिसे पश्चिम के साहित्य में 'समाज के प्रति विद्रोह भावना' कहकर बहुत बड़ा नाम दिया गया है। वस्तुतः प्राचीन हिन्दू कवि इस जगत् के समस्त विधान को सामंजयपूर्ण और उचित मानता था। धनी या निर्धन होना पुराने पुण्य या पाप का परिणाम है, अच्छे या बुरे कुल में जन्म लेना सुकृत या दुष्कृत का फल है, इसमें कहीं विरोध या विद्रोह की जरूरत ही नहीं है। साहित्य में इसीलिये 'रिवोल्ट' नामक वस्तु का आय एकदम अभाव पाएंगे। मैं यहाँ यह नहीं कह रहा हूँ कि प्राचीन भारतियों का ऐसा विश्वास ठीक था या गलत था। मैं यह भी नहीं कहने जा रहा हूँ कि 'रिवोल्ट' का होना वांच्छनीय है या अवांच्छनीय। यह सब आवन्तर प्रसंग हैं। यथा अवसर मैं इसकी चर्चा करूंगा। यहाँ मैं केवल संस्कारों की प्रबलता और तज्जन्य सांस्कृतिक मनोद्वंद्व का एक उदाहरण आप के सामने रख रहा हूँ। यह समझना आसान है कि कर्मफल की अवश्य-प्राप्यता में विश्वास करने वाला नाटककार जगत् की समंजस व्यवस्था को चुनौती नहीं दे सकता। भारतीय नाटकों में यह प्रथा रूढ़ हो गई है कि धर्मात्मा को पापात्मा से कभी पराजित होते न दिखाया जाय और सद्विचारशील व्यक्ति कठिनाइयों से जूझता हुआ हार न जाने पावे।

यह विश्वास भारतीय नीतिशास्त्र के मूल में है और भारतवर्ष के समस्त प्रयत्नों को इस नैतिक आदर्श के अनुसार रूप देने का प्रयत्न किया गया है। इसीलिये भारतवर्ष में उस श्रेणी के नाटक या आख्यायिका या काव्य नहीं लिखे गए जिन्हें 'ट्रैजेडी' कहते हैं। परन्तु यदि एक बार मनुष्य के मानसिक आवेगों और संवेगों को दृष्टि में रखकर विचार करें तो एक दूसरी सचाई भी सामने आती है। मनुष्य के अनेक मानसिक सवेग (इम्पल्स) जो एक दूसरे के विरुद्ध जाते हैं, या एक दूसरे को क्षीण बल करते रहते हैं कलाकार के समवेदन शील चित्र में युगवत् उत्थित होते हैं। हमारे देश के अलंकार शास्त्रियों ने स्वीकार किया हैं कि दो विरुद्ध भाव एक ही आश्रय के मन में आ सकते हैं, रस की अनुभूति में ये समय समय बाधक ही होते हैं। इसीलिये इनमें किसी एक को या तो अंग बनकर गौण हो जाना चाहिए या आश्रय का भेद दिखाकर रसबोध के मार्ग को निष्कंटक कर देना चाहिए। लेकिन यह तो इस पर से अनुमान कर ही लिया जा सकता है कि आश्रय के चित्र में न सही; कवि के चित्र में ऐसे चित्र में ऐसे विरुद्ध भाव एक साथ आ जाते हैं।

कवि या कलाकार के चित्र में ये विरुद्ध-अविरुद्ध भाव अपने विरोधी स्वभाव को छोड़कर बने रहते हैं और अवसर पाकर जब कला के माध्यम से प्रकट होते हैं तो श्रोता के चित्र में विचित्र सामंजस्य उत्पन्न करते हैं। तरस खाना और करुणार्द्र होना विषय के प्रति अभिमुखीकरण के संवेग हैं, इनके द्वारा चित्र उस वस्तु की ओर अभिमुख होता है जिसे देखकर ये भाव उदित हुये थे। विभीषिका और त्रास प्रतिमुखीकरण के संवेग हैं, इनके द्वारा मनुष्य विषय की ओर जाना नहीं चाहता उसे दूर छोड़कर मुंह फिरा लेना चाहता है। दुःखान्त नाटकों में ये दोनों भाव एक साथ काम करते रहते हैं। हमारे देश का आलंकारिक निश्चित रूप से यह सिद्ध कर सकता है कि इनमें दोनों समान शक्तिशाली नहीं हो सकते, एक अंगी होकर रहेगा व दूसरा अंग, या फिर दोनों तुल्यबल हुए तो रसबोध को ही मार डालेंगे। परन्तु ट्रैजेडी के आलोचक मानते हैं कि ये दोनों संवेग श्रोता के चित्र में एक साथ वर्तमान रहते हैं और एक ऐसे अलौकिक आस्वाद को उत्पन्न करते हैं जो साधारण जीवन के अनुभवों से हू-ब-हू नहीं मिलते। आधुनिक मनोविज्ञान ने बताया है कि हम दो कौशलों से उन मनोवेगों को तरह दे जाते हैं जिनसे हैरान होने की आशंका होती हैं—दमन से और उन्नयन से। ट्रैजेडी की महिमा इस बात में है कि वह इन दोनों से हमें मुक्त रखती है। कठिनाई या तो मनोभावों के दमन से पैदा होती है या उनके उन्नयन से। सफलता मिलने के समय मनुष्य न तो किसी मनोभाव का दमन करता है न उन्नयन। सफलता जन्म संतोष इस विश्वास का फल है कि स्नायुमंडल ठीक है, कहीं कोई आयास नहीं करना पड़ा है। आधुनिक सौंदर्य शास्त्री ट्रैजेडी सर्वप्रेरक और सर्वग्राह्य वस्तु मानते हैं क्योंकि वह दो परस्पर विरुद्ध मनोभावों का सन्तुलन ठीक रखकर आश्चर्यजनक सामंजस्य उत्पन्न करती है।

यह दो दृष्टियाँ हैं। एक समाज की समंजस व्यवस्था को अनालोडित रखने के उद्देश्य से सामाजिक मंगल के रास्ते चलकर प्राप्त की गई है और दूसरी व्यक्ति-मानव के मनोवेगों का निरीक्षण करके उपलब्ध की गई है। किसी की महिमा अस्वीकार नहीं की जा सकती। अस्वीकार करने के लिये अधिक से अधिक धीर विवेचना और मानसिक संयम की आवश्यकता है। भारतीय कवि ने अपने विश्वासों के अनुसार जगत् के समंजस विधान में संदेह करना उचित नहीं समझा। अपने लिये उसने आत्म निर्मित अनेक बंधन स्वीकार कर लिए। इन बंधनों के भीतर उसने जो रस सृष्टि की उसे अपने देश और कालगत संस्कारों के चश्मे से देखने से हम उसका सौंदर्य नहीं उपलब्ध कर सकेंगे।

समूचे भारतीय काव्य में—नितान्त आधुनिक काल को छोड़कर–कवि ने अपने को सदा निर्लिप्त द्रष्टा बनाए रखा है, वह चीज जिसे वैयक्तिक स्वाधीनता कहते हैं, जिसमें कवि हर द्रष्टव्य को अपने अनुराग-विराग में डुबोकर देखता है, आधुनिक युग के संघर्ष की उपज है। यह बात इस देश में नई है। भारतीय कवि को समझना हो तो भारतीय संस्कारों को समझ लेना चाहिए, नहीं तो गलती हो सकती है। प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान श्री ए० वी० कीथ ने भारतीय नाटकों की आलोचना के सिलसिले में एक जगह लिखा है, "मानव जीवन के गभीरतर प्रश्नों के लिये कालिदास ने हमारे लिये कोई संदेश नहीं रख छोड़ा है और जहां तक हम देख सकते हैं ऐसे गम्भीरतर प्रश्नों ने उनके भी मस्तिष्क में कोई सवाल नहीं पैदा किया। ऐसा जान पड़ता है कि गुप्त सम्राटों ने जिस ब्राह्मण धर्मानुमोदित समाज व्यवस्था की स्थापना की थी उसमें वे (कालिदास) पूर्णतया संतुष्ट थे और विश्व की समस्याओं ने कभी उन्हें उद्विग्न नहीं किया। शकुन्तला नाटक यद्यपि मोहक और उत्कृष्ट है तथापि वह एक ऐसी संकीर्ण दुनिया में चलता फिरता है जो वास्तविक जीवन की क्रूरताओं से बहुत दूर है। वह न तो जीवन की समस्याओं का उत्तर देने का प्रयत्न करता है और न उसका समाधान ही खोज निकालने की चेष्टा करता है। यह सत्य है कि भवभूति ने दो कर्त्तव्यों के विरोध के अस्तित्व की जटिलता और कठिनता के भाव दिखाए हैं और उस विरोध से उत्पन्न दुःख को भी दिखाया है पर उनके ग्रंथों से भी इसी नियम का प्राबल्य दिखाई देता है, कि सब कुछ का अंत सामंजस्य में ही होना चाहिए। ब्राह्मण्य धर्मानुमोदित जीवन संबंधी सिद्धान्तों ने नाटकीय दृष्टि-कोण में कितनी संकीर्णता ला दी है, इस बात को संस्कृत नाटकों का समूचा इतिहास प्रमाणित करता है। यही नहीं, ब्राह्मण धर्मानुमोदित परम्परा को स्वीकार करने के कारण ही "चण्ड कौशिक" जैसे नाटक लिखे जा सके हैं जहां एक अभागे राजा की दानशी-लता से उत्पन्न ऋषि विश्वामित्र की विक्षिप्त जनोनित प्रतिहिंसा से तर्क और मनुष्यता के प्रति बेहद विद्रोहाचरण हुआ है।[1]

यह उद्धरण किसी उत्साही ईसाई धर्म प्रचारक की पुस्तक से नहीं लिया है। श्री कीथ विचारशील पंडित हैं भावावेग से वे चलित नहीं होते। कई बार उन्हें भारतीय सभ्यता के उत्साह परायण विरोधियों से लोहा लेना पड़ा है। उन्हें यूरोपीय पंडितों के चित्त

---

१. ए० वी० कीथ : संस्कृत ड्रामा, आक्सफोर्ड १।२४, पृष्ठ २८०।

से अनेक भ्रान्त धारणाओं को दूर करने का श्रेय प्राप्त है। इसलिए यह उद्धरण यों ही टाल देने लायक नहीं है। इसमें जिन बातों को छोटा दिखाने का प्रयत्न किया गया है उसे छोटा दिखाने के लिए वृहत्तर नैतिक पट भूमिका पर रखना उचित था। यदि उस वृहत्तर पटभूमि कालिदास या वाल्मीकि सचमुच छोटे दिखें तो छोटे ही हैं, पर इस प्रसंग में लेखक ने अपने संस्कारों के चश्मे से देखने की गलती की है। यह नहीं कहा जा सकता कि इन्होंने जो बातें कहीं हैं वे गलत हैं। गलत हैं उनकी दृष्टिभंगी। सचाई गलत ढंग से देखी जाने पर अवहेलनीय हो जाती है। जो मनुष्य मानता है कि यह संसार क्षणभंगुर है, इस परिवर्तमान क्षणभंगुरता के वाह्य आवरण के भीतर एक चिरन्तन सत्ता है जो सब सत्यों का सत्य है, और जिसे आश्रय करके ही बाह्य जगत् की सत्ता प्रतिभान हो रही है, वह जीवन के गभीरतर प्रश्नों की बात मानता ही कहां है कि उसका उत्तर देता फिरे! उसके मन से तो जीवन के गभीरतर प्रश्नों का समाधान हो गया रहता है। बाकी प्रश्न केवल ऊपरी और भ्रमजन्य हैं। जिसे जीवन कहा जाता है वह भारतीय कवि की दृष्टि से कर्मबंध के भोग के लिए एक क्षणिक पड़ाव है। मनुष्य का शाश्वत निवास यह कर्म प्रपंचमूलक जगत् नहीं है। धन और यौवन की समस्याएँ जोवन के गभीरतर प्रश्न तो हैं ही नहीं, उनका मूल्य स्वप्न में देखे हुए सुख स्वप्न के समान नितान्त क्षणभंगुर है। मनोविनोद के लिये इस चिंता को थोड़ी देर के लिए मान लिया जा सकता है, पर संपूर्ण भारतीय साहित्य इसे इतने से अधिक महत्व नहीं देता। वास्तविक और गहन प्रश्न है इस लोक से बाहर का। भारतवर्ष का कवि उस पर ही दृष्टि जमाता है। जो लोग इसी में उलझे हुए हैं उन्हें देखकर उसे आश्चर्य होता है। भला,

चला विभूतिः क्षणभंगि यौवनं
कृतान्तदन्तान्तरवर्ति जीवतम्।
तथाप्यवज्ञा परलोक साधने
नृणां न कि विस्मयकारि चेष्टितम्!

वस्तुतः यदि कोई सचमुच भारतीय साहित्य का रस अनुभव करना चाहे तो उसे भारतबर्ष के इन चिरसंचित संस्कारों का अध्ययन अवश्य कर लेना चाहिए। जब हम देश और काल के इन विश्वासों को ठीक ठीक समझ लेंगे तभी उनके आधार पर रचित साहित्य के अनाविल रसरूप का परिचय पा सकेंगे। श्री कीथ जैसे विद्वान को भी जब हम विचलित होते देखते हैं तो लगता है कि अभी बहुत प्रयत्न की आवश्यकता है। एक क्षण

के लिए सोचिए कि यदि आप भी ग्रीक ट्रेजेडी को उसी पकार भारतीय संस्कारों के चश्मे से देखें जो आलोचना कैसी होगी। मैं समझता हूं वह कुछ इस प्रकार की होगी।

"ग्रीक साहित्य के श्रेष्ठ नाटककार भी मायाजन्य भ्रममूलक बातों को ही जीवन का गभीरतर प्रश्न समझते रहे। इस निरन्तर परिवर्तमान जगत् के भीतर भी एक शाश्वत सत्ता है, एक चिन्मय 'सत्' है जो प्रकृति के भासमान विकारों से एकदम निर्लिप्त है, यह सहज सी बात कभी उनके मस्तिष्क में आई ही नहीं। ट्रेजोन की पौराणिक कल्पनाओं के आधार पर जो नाटक लिखे गए वे कभी भी जीवन के वास्तविक गांभीर्य तक पहुंचे ही नहीं। वे और उन्हीं के आदर्श पर लिखे गए उत्तरकालीन अंगरेजी नाटक, एक ऐसे उद्देश्यहीन मायाजाल में उलझे हुए छटपटाते रहे जहाँ पर पद पद पर परस्पर विरुद्ध जाने वाले कर्त्तव्यद्वंद्व उन्हें सताते रहे और अंत तक वे किसी सामंजस्य मूलक जागतिक व्यवस्था का पता न लग सके। ग्रीक विचारधारा ने नाटकीय दृष्टि को कितना विश्रृंखल बना दिया है, इस बात को यूरोपियन नाटकों का समूचा इतिहास बड़े स्पष्ट रूप में दिखा देता है।" इत्यादि इत्यदि।

कहना बेकार है कि इस प्रकार आलोचना से हम ग्रीक साहित्य के सौंदर्य को खो देंगे और फिर कोई भी यह नहीं कह सकेगा कि हम अपने विश्वासों के प्रति पूर्ण ईमानदार नहीं हैं। सचाई भी गलत ढंग से प्रकट करने पर झूठ हो जाती है।

जीवन के गभीरतर समझे जाने वाले प्रश्नों का साहित्य में समाधान खोजना आधुनिक प्रवृत्ति है, अत्यन्त हाल में जड़ विज्ञान की उन्नति के साथ साथ मनुष्य की दुनिया छोटी हो गई है। यंत्रों के अविष्कार ने जहां जीवन की ऊपरी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्रचुर उत्पादन की व्यवस्था की है, वहां वितरण और उपयोग की उतनी ही अच्छी व्यवस्था नहीं हो सकी है। क्योंकि उत्पादन के साधन कुछ थोड़े से लोगों के हाथों में चले गए हैं, उनके हाथियाने में जिस बौद्धिक कौशल की आवश्यकता है, वह मनुष्य अनायास ही उचित अवसर मिलने पर पा जाता है। परन्तु उससे उत्पादित सामग्री को सब तक पहुँचा कर, सब के साथ मिलकर भोगने में जो मानसिक औदार्य और बौद्धिक निर्लिप्तता आवश्यक है, वह उतनी आसानी से नहीं मिलती। पहली मनोवृत्ति छीन-झपट कर अपना स्वार्थ साधन करने के कौशल को प्रश्रय देती है, इसे मनुष्यों ने अपने पूर्वज पशुओं से विरासत के रूप में पाया है। दूसरी मनोवृत्ति में आत्मत्याग पर दुःख संवेदना और मनुष्य की चरम एकता के भाव हैं, जो संस्कार और साधना की अपेक्षा रखते हैं। पहली मनो-

वृत्ति ने शोषकों का दल पैदा कर दिया है परन्तु दूसरी मनोवृत्ति अब भी अत्यंत शिशु रूप में है। इस नई अवस्था ने संसार के सामने सैकड़ों समस्यायें उपस्थित कर दी हैं। घिनौने युद्ध और भयंकर अकाल अब प्रकृति के कोप से नहीं होते मनुष्य की दुर्ललित वासनाओं के कारण हो रहे हैं। जीवन एक सिरे से दूसरे सिरे तक इस प्रकार झकझोर दिया गया है कि पुराने संचित संस्कार बुरी तरह झड़ गये हैं और एक दूसरे से उलझ गए हैं। मनुष्य ने इतने दिनों तक जीवन के विभिन्न पहलुओं का जो मूल्य आंका था वह अधिकांश भहरा कर चकनाचूर हो गया है। बहुत कुछ टूट रहा है, बहुत कुछ ढह रहा है। मनुष्य सर्वत्र इन समस्याओं का समाधान खोजता है। वह विज्ञान से इसका हाल पूछता है, इतिहास से इसका रास्ता पूछता है और साहित्य से इसके समाधान की आशा रखता है। जीवन जटिल हो गया है। जहां विज्ञान ने ज्यादा पैर जमाया है, जहां व्यवसायमूलक क्रांति हुई है, अर्थात् जहां अवसर देखकर एक दल ने उत्पादन के साधनों को हथिया लिया है वहीं समस्याएँ सहस्रमुखी हो गई हैं। उन्होंने नाटक को ग्रस लिया है, काव्य को ग्रस लिया है और साहित्य को समझने की दृष्टि को भी ग्रस लिया है। पुराने भारतीय कवि की अपनी सीमाएं हैं, ग्रीक कवि की भी अपनी सीमाएं हैं। उन सीमाओं के भीतर उन्होंने कैसा रूप और रस की सृष्टि की है यही विचार्य है। आधुनिक समस्याओं का समाधान उनमें नहीं मिलेगा ऐसा तो नहीं है, परन्तु उत्तर सामान्य और व्यापक ढंग का होगा, विशिष्ट या शंकुभूत नहीं। क्योंकि जीवन की सभी समस्याएँ सामयिक ही नहीं है, कुछ दीर्घ स्थायी भी हैं। पुराने लोगों ने भी कुछ का सामना किया था। उनके सभी अनुभव बासी नहीं हो गए हैं। प्रसिद्ध तंत्र शास्त्रज्ञ सर जान वुडरफ़ ने एक बार बड़े अफसोस के साथ कहा था कि "साधारणतः यूरोपियन प्राच्य विद्या विशारद गण और उनके वे भारतीय शिष्य जो उनकी ही अंगुली पकड़कर चला करते हैं कुछ ऐसे अवहेलामूलक विचारों का पोषण करते हैं कि भारतीय शास्त्र केवल ऐतिहासिक कुतूहल के विषय हैं। यही कारण है कि वे इस तथ्य को स्वीकार नहीं कर पाते कि प्राचीन पूर्वीय ज्ञान और आधुनिक आविष्कारों में भी आश्चर्यजनक साम्य मिलता है।" [1]

इस प्रकार की सदोष दृष्टि का परिमार्जन वांछनीय है।

इस प्रकार की दृष्टि लेकर भारतीय साहित्य को देखने वालों ने अनजान में इस देश

१ 'क्रिश्चन ऐज़ एक्सप्लेन्ड इन दि तंत्रज़'

में एक प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न कर दी है। इस प्रतिक्रिया के कारण इस देश में उन अत्यन्त उत्साह परायण समालोचकों का अविर्भाव हुआ है जो सब समस्याओं का समाधान एक ही कसौटी पर कसके करने लगे हैं–'हमारे यहां' ऐसा माना है, या 'हमारे यहाँ' ऐसा नहीं माना है 'हमारे यहाँ' उनका अमोघ ब्रह्मास्त्र है जिससे किसी को भी धाराशायी बनाया जा सकता है। 'पाश्चात्य विचार का प्रभाव' उनका ऐसा बहुधा विघोसित निंदा वाक्य है कि जिस किसी विचार को परास्त करने के लिए यह एक वाक्यांश बहुत काफी समझा जा सकता है। साधारणतः उपनिषदों के कुछ यंत्र या काव्य प्रकाश या साहित्य दर्पण के कुछ श्लोक पढ़ कर ये लोग काव्यगत सौंद्रर्य के उत्कर्ष या अपकर्ष का निर्णय किया करते हैं और उसके बाहर के किसी भी विचार को 'पाश्चात्य' कहकर निश्चिन्त हो जाते हैं। यह प्रायः ही भुला दिया जाता है कि "हमारे यहाँ' कोई छोटा-मोटा ज्ञान रत्नाकर नहीं है। किसी एक ही विचार को भारतीय विचार कह देना न केवल अपनी अल्पज्ञता का प्रदर्शन करना है बल्कि अपने देश की विशाल ज्ञान परम्परा का अपमान करना भी है। न जाने इस "हमारे यहाँ" नामक समुद्र में कितने ज्ञान के रत्न और संस्कारों के नक्र-मकर भरे पड़े हैं। इसमें आत्मवादी हैं, अनात्मवादी हैं, वैराग्यमार्गी हैं, भोगमार्गी हैं, द्वैतवादी हैं, अद्वैतवादी है, शून्य विश्वासी है, नियति-विश्वासी हैं। नाना मतमनान्तरों के इस विशाल भंडार से ज्ञान के एकाध टुकड़े चुनकर उसी को संपूर्ण मनीषा की एकमात्र उपज मान लेना क्या उचित है? हमारे देश का इतिहास हजारों वर्षों की निरन्तर प्रवहमान विचारधारा से समृद्ध है। हमारे पूर्वजों ने अपने सुदीर्घ इतिहास में न जाने कितनी सामयिक परिस्थितियों से युद्ध किया है, कितने विकट प्रश्नों का समाधान खोजा है, वे परिस्थितियाँ समाप्त हो गईं उन विकट प्रश्नों को उपस्थित करने वाले घटनाचक्र महाकाल के रथचक्र के नीचे पिस गये, इतिहास के अनवरुद्ध धारा के वेग में उन प्रश्नों के सोचे समाधान भी समाप्त हो गये, केवल किनारों पर छिटक कर छूट गये कुछ ग्रंथ कुछ शिलालेख और कुछ अनुभव हमारे पास रह गये हैं। भारतीय विचारधारा इन सबसे बड़ी वस्तु है। हमारा ज्ञान भाण्डार केवल संयोगवश प्राप्त कुछ छिटके फुटके तालपत्रों और प्रस्तर खंडों की लिपियों तक ही सीमावद्ध नहीं है। और कुछ थोड़े से श्लोकों में उसे बांधने का प्रयत्न तो एकदम हस्यास्पद है। ऐसा करने से हम वृहत्तर मानवी दृष्टि की प्रतिष्ठा में बाधा खड़ी करते हैं। हमारे देश के मनुष्य भी वृहत्तर मानव समाज के अंग हैं। हमारे पास जो कुछ भी साहित्य बच रहा है वह पद यदि अत्यन्त कम है तो भी विशालता में और गंभीरता में वह संसार का सर्वश्रेष्ठ साहित्य है।

उसमें हजार प्रश्नों के हजार उत्तर हैं। उनकी निपुण भाव से परीक्षा करने वालों ने देखा है कि भारतीय मनीषियों ने हर बात का मूल्य वृहत्तर नैतिक पटभूमिका पर रख करके ही किया है। काव्य का ही अगर प्रश्न लिया जाय तो हमारे देश के मनीषियों ने कभी भी उसे विश्वजनीन नैतिक पटभूमि से निम्न स्तर पर रखकर विचार नहीं किया। आप उनसे सहमत हों या नहीं; यह अवश्य स्वीकार करेंगे कि शब्द और अर्थ के 'साहित्य' की चारुता का विचार उन्होंने निम्नतर पटभूमि पर रख कर नहीं किया। और 'हमारे यहाँ' का आधुनिक ब्रह्मास्त्र तो उनके निकट एकदम अपरिचित था।

जहां तक केवल जीवन धारण करने का प्रश्न है, मनुष्य अपने प्रयोजनों से बंधा हुआ है। उसकी दुनिया प्रयोजनों की दुनिया है। परन्तु वह केवल जीवन धारण करने को, केवल किसी प्रकार बचे रहने को ही पर्याप्त नहीं समझता। वह अपने को नाना भाव से प्रयोजन के जगत से बाहर भेजना चाहता है। वहीं उसका ऐश्वर्य है। पशु का जीवन केवल जीने के लिए है उसमें प्रेम नहीं है, सौंदर्य प्रीति नहीं है, कुछ नई बात गढ़ने की इच्छा नहीं है। ये बातें मनुष्य जीवन का ऐश्वर्य हैं, उसका प्रकाश है। जिस जीवन में प्रेम नहीं, भक्ति नहीं सौंदर्य नहीं वह जीवन पशु का जीवन है। मनुष्य उतने से संतुष्ट नहीं है। घी का लड्डू टेढ़ा भी भला होता है, उससे प्रयोजन तो सिद्ध हो ही जाता है पर मनुष्य उतने से ही संतुष्ट नहीं होता। उसे उस लड्डू को सुन्दर बनाने में रस मिलता है। प्रयोजन के अतीत पदार्थ का ही नाम सौंदर्य है, प्रेम है, भक्ति है, —मनुष्यता है। जहाँ स्वार्थ समाप्त होता है मनुष्यता प्रारंभ होती है। जीवन में जहाँ तक स्वार्थ है वहाँ तक वह लालसा के क्षेत्र में रहता है, जहाँ उसके ऊपर जाता है वहाँ वह 'प्रेम' के जगत में आता है। जीना ही केवल जीना थोड़े हैं—

कवि ठाकुर भोग संजोग सबै सुख जीजतु है पै न जीजतु है।
मन भावने प्यारे गुपाल बिना जग जीजतु है पै न जीजतु है॥

गद्य हमारे प्रयोजनों की भाषा है। काव्य हमारे प्रयोजनातीत आनन्द का प्रेरक है। समस्या समाधान गद्य का काम है, जीवन की चरितार्थता काव्य का अभिप्रेत है। जब तक यह काव्य जीवन का अंग नहीं बन जाता तब तक मनुष्य दीन होता है; प्रकाश-हीन होता है, पर काव्य का रस जब उसे मिलता है, जब वह केवल प्रयोजनों की दुनिया से ऊपर उठता है तब उसे उस वस्तु का अनुभव होता है जो 'मनुष्यता' है जो उसके हृदय को संवेदन शील और उदार बनाती है। यह मनुष्य जीवन का ऐश्वर्य है। जीवन

का यही काव्य नाना भाव से अपने को प्रकाशित करता है। काव्य में, शिल्प में, नृत्य में, गीत में, धर्म में, भक्ति में मनुष्य उस अपार भूमा का रस पाता है जो उसे प्रयोजनों की संकीर्ण दुनिया से उठाकर असीम में प्रतिष्ठित करना है। तभी वह उपनिषद् के ऋषि की भाषा में कह उठता है—भूमैन सुखं, नाल्पे सुखमस्ति।

मनुष्य के सभी विराट प्रयत्नों के मूल में कुछ व्यक्तिगत या समूहगत विश्वास होते हैं, परन्तु जब वे उस संस्कार जन्य प्रयोजन की सीमा अतिक्रम कर जाते हैं तो उसमें मनुष्य की विरात् एकता और आधार जिजीविषा का ऐश्वर्य प्रकट होता है। फिर वह किसी समूह में आवद्ध न हो कर मनुष्य मात्र की संपत्ति हो जाता है। ताजमहल कुछ व्यक्तिगत प्रति और कुछ समूहगत संस्कारों की बुनियाद पर खड़ा हुआ है परन्तु वह उस सीमा को अतिक्रम कर गया है। कोणार्क के मंदिर की जो लोग केवल यह कहकर उपेक्षा करते हैं कि वह मूर्तिपूजा को प्राश्रय देने वाली कला है वे संस्कृति के बहुत निचले स्तर पर भी नहीं पहुंच सके। वे उन बर्बरों के स्तर से बहुत ऊपर नहीं उठ सके जिन्हें कुफ्र दूर करने के लिए मंदिरों और मूर्तियों को ध्वंस किया था और प्रतिहिंसा से स्पर्द्धित होकर सुन्दर मकबरों में भूसा भरवा । था। आज के प्रजातन्त्र के युग में तुलसीदास को राजतंत्र का प्रचारक कहकर आसानी से फेंक दिया जा सकता है। ये लोग भूल जाते हैं कि जितना हिस्सा जलता है वह प्रकाश नहीं कहलाता। प्रकाश उससे अतिरिक्त वस्तु है। ताप केवल प्रयोजन है, प्रकाश उसका ऐश्वर्य है, उसका अतिरिक्त दान है। तुलसी-दास का काव्य उस प्रयोजन से कहीं अधिक प्रकाश देता है जिसके लिए वह रचित हुआ था। वह राम नाम का प्रचारक है, पर इतना ही उसका परिचय नहीं है। वह मनुष्य के सुख दुःख को, आशा-आकांक्षा को उसके संपूर्ण ऐश्वर्य के साथ प्रकट करता है। मनुष्य जीवन में जो कुछ श्रेष्ठ है, जो कुछ महत् है, उसी का विजयोद्घोष करता है, वह उस मानवीय महिमा का प्रचारक है जो धर्म की कान्ति से मनोहर हो उठा है, वीरता के तेज से दीप्त हुआ है और सतीत्व की श्री से समृद्ध हुआ है। वह मानव धर्म के जगद्विदित महामान से पूरा उतरता है, इसी लिए वह महान् है। जब जब और जहां जहां वह मनुष्यपन का ऐश्वर्य काव्य में, नाटक में; शिल्प में, चित्र में, मूर्ति में अपनी प्रयोजन की सीमा को छोड़कर प्रकाश रूप में प्रकट हुआ है वहीं वहीं वह पूज़नीय हुआ है। उसी महिमा के बल पर महाकवियों की रचनाओं ने देवता को मनुष्य बनाया है। मूर्तिकारों की छैनी ने पत्थर में प्राण संचार किया है और नगराय दारु खण्ड को पूजाई वनाया है।

आज यदि आप संसार की सारी समस्याओं का विश्लेषण करें तो इनके मूल में एक ही बात पायेंगे कि—मनुष्य की तृष्णा। यह अद्भुत तृष्णा कहीं समाप्त होने का नाम नहीं लेती। मनुष्य में सर्वत्र अभाव ही अभाव भर गया है। जीवन की वह परिपूर्णता कम हो गयी है जो मनुष्य को जाचक न बना कर दाता बनाती है। आज उत्पादन बढ़ाने की धूम है, जीवन का स्तर ऊँचा उठाने का संकल्प मुखर है परन्तु जीवन में वह उच्छलित आनन्द कैसे आएगा जो मनुष्य को संयत और संतुष्ट बना सके इसकी चिंता किसी को नहीं है। मैं भौतिक समृद्धि के प्रयत्नों को छोटा बनाने के उद्देश्य से यह बात नहीं कह रहा हूँ। उत्पादन का बढ़ाना आवश्यक है, जीवन स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न भी श्लाध्य है, पर इतने से समस्या का हल नहीं हो जाता। तृष्णा वह आग है जिसके पेट में जितना भी झोंक दीजिये सब भस्म हो जायगा। उस वस्तु की खोज होनी चाहिये जो मनुष्य को छोटे प्रयोजनों में बांधने के बदले उसे प्रयोजनातीत सत्य की ओर उन्मुख करे। साहित्य और संगीत यही काम करते हैं, कला और सौंदर्य उसे इसी ओर ले जाते हैं। नितान्त उपयोगिता की दृष्टि से भी विचार किया जाय तो मनुष्य समाज की स्थिति के लिए—सभ्यता और संस्कृति की रक्षा के लिए ही—यह आवश्यक हो गया है कि मनुष्य अपने उस महान् उन्नायक धर्म की उपेक्षा न करे जो उसे क्षुद्रता और संकीर्णता से ऊपर उठाते हैं। भौतिक समृद्धि के बढ़ाने का प्रयत्न होना चाहिये पर उसे सन्तुलित करने के लिए साहित्य और संगीत आदि का भी बहुल प्रचार बांछनीय हैं। सो प्रयोजनों की सीमा छोड़ कर पशुसुलभ आहार-निद्रा के धरातल से ऊपर उठकर ही मनुष्य उस महिमा को पाता है ज उसे देवता बनाते हैं। संक्षेप में इसी गुण को 'मनुष्यता' कहते हैं।

यह तो निश्चित है कि बास स्थूल जगत् को छोड़ कर मनुष्य न रह सकता और न अपने देश और काल के सीमाओं से अस्पृष्ट रह कर ही कोई शिल्प सृष्टि कर सकता है। काव्य भी स्थूल जगत् से विच्छिन्न होकर नहीं रह सकता क्योंकि शब्द और अर्थ ही उसके शरीर है और अर्थ शब्दों द्वारा सूचित वाह्य सत्ता को प्रकट करते हैं। एक व्यक्ति के चित्त में उचित अर्थ को दूसरे के चित्त में प्रवेश कराके ही शब्द सार्थक होता है। भावावेग द्वारा कंपित और आंदोलित शब्दार्थ अपने सीमित अर्थ से अधिक को प्रकाशित करता है। शब्द के अभिधेय अर्थ से कहीं अधिक को प्रकाशित करने वाली शक्ति को प्राचीनों ने नाना नाम देकर स्पष्ट करना चाहता है। सब से अधिक प्रचालित

और मान्य शब्द 'व्यंजना' है। अनुरणन के साथ उसकी तुलना करके उसी भावावेग-जन्म कम्पन की ओर इशारा किया गया है। छन्द उस आवेग का वाहन है। छन्दोहीन भाषा में कल्पना और संभूर्तन तो हो सकता है पर आवेग का कम्पन नहीं होता। प्राचीन कथाओं की गद्य समझी जाने वाली भाषा में भी एक प्रकार का 'छन्द' है—एक प्रकार की वक्र कम्पनशील नृत्य भंगिमा। वे कहानी की इस सीधी बात को कि 'एक था राजा' इतने सरल ढंग से नहीं कहेंगे। कहेंगे—'धनदर्य कन्दर्य सोन्दर्य सोदर्य रूपो भूपो बभूव।' यह भाषा ही छन्दोमयी है, इसमें छन्द है, झंकार है, लोच है, वक्रता है जो अर्थ में आवेग भरने का प्रयत्न करते हैं। उपन्यास में यह आवेग कम होते हैं क्योंकि उनकी भाषा में गद्यात्मकता होती है परन्तु जहां कहीं भी उसमें आवेग का कंपन आता है वहीं प्रच्छन्न छंद भी रहता है। मेरे कहने का यह मतलब नहीं समझना चाहिए कि आवेग कपित भाषा न होने के कारण मैं उपन्यास को कम महत्व पूर्ण साहित्यांग मानता हूं। उपन्यास भी साहित्य के मुख्य उद्देश्य का उसी प्रकार पूरक है जिस प्रकार काव्य। यहाँ पर मैं छन्द और प्रास की क्रिया तक ही अपने विचारों को केंद्रित रख रहा हूँ। अनुप्रास भावावेग के वेग में नृत्य का छन्द जोड़ता है, जब एक ही ध्वनि बार बार दुहराई जाती है तो श्रोता आवेग की वक्रिमता से सहज ही प्रभावित हो जाता है। यदि काव्य में से अर्थ प्रकाशक शब्द हटा दिए जाँय तो वह ध्वनि-प्रवाह संगीत बन जायगा। वस्तुतः अर्थहीन छन्दः-प्रवाह संगीत ही है। संगीत में बाह्य जगत् की उस सत्ता से जो शब्द द्वारा प्रकाशित होती है, कम-से-कम योग होता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार गणित में उस आन्तर सत्ता से जो आवेग कम्पित स्वर से प्रकाशित होती है कम-से-कम योग होता है। चेतना के एक प्रान्त पर संगीत है दूसरे पर गणित। संगीत में जिसे स्वर कहते हैं वह एक प्रकार का वेग ही है। बाह्य अर्थों से युक्त होने पर वह आवेग के रूप में प्रकट होता है। परन्तु काव्य जिस प्रकार शब्द प्रकाश्य अर्थ के द्वारा बाह्य विषय सत्ता से बँधा रहता है, उस प्रकार संगीत नहीं बँधा रहता। वह अपने आप ही स्पंदित होता है। ताल उसमें उसी प्रकार की अनुभूति क्षमता भरता है जिस प्रकार छन्द आवेग में। काव्य द्वारा और संगीत द्वारा स्पंदित मानव चित्र के आवेगों में थोड़ा अन्तर होता है। काव्य में आवेग द्वारा जो स्पन्दक उत्पन्न होता है वह बाह्य सत्ता से पूर्णतया सम्बद्ध होता है, हम बाह्य घटनाओं की अनुभूति से चालित होते रहते हैं। काव्य पाठक के सुख-दुःख का आवेग उत्पन्न करता है, मनुष्य दूसरों के सुख-दुःख के साथ उसकी समवेदना होती है और अन्त तक उस सुख दुःख को अनुभव करने लगता है। इस प्रकार काव्य मनुष्य-

मनुष्य के भीतर वर्तमान एकत्व का प्रतिष्ठापक हो जाता है। काव्य प्रमाणित कर देता है कि व्यक्ति मानव के ऊपरी विभेदों के नीचे एक अभेद है, एकता है।

कहते हैं, विभिन्न आवेगों से भिन्न भिन्न जाति और आकृति के कंपन उत्पन्न होते हैं। संगीत से भी उसी प्रकार के कंपन उत्पन्न होते हैं जिस प्रकार के कम्पन काव्य से उत्पन्न होते हैं फिर भी संगीत से उत्पन्न कंपनों का योग वाह्य सत्ता से कम होने के कारण श्रोता के चित्त में उतनी गाढ़ अनुभूति नहीं होती जितनी काव्य जनित आवेग के कंपन से होती है। टोड़ी के आलाप से जो एक प्रकार की उदास और विरह-व्याकुल वेदना चित्त में घुमड़ आती है वह विश्वजनीत तो होती है। पर अवच्छिन्न या एब्सट्रैक्ट होने के कारण अनुभूति में वह सान्द्रता नहीं ले आ पाती जो काव्य के करुण रस से उत्पन्न होती है क्योंकि संगीत की अनुभूति अहेतुक होती है। मनुष्य का चित्त सर्वत्र कार्य-कारण की शृंखला खोजता रहता है—अनुभूति और वेदना के क्षेत्र में भी। काव्य जन्य अनुभूति की सान्द्रता इस बात का पक्का प्रमाण है कि मनुष्य आवेग चालित अवस्था में कार्य-कारण-शृंखला के प्रति आस्था बनाए ही रहता है। जहाँ वह उसे नहीं पाता वहाँ देर तक जमना नहीं चाहता। यही कारण हैं कि भक्त कवि भगवान् के साथ व्यक्तिगत संबंध की कल्पना कर लेता है। जिस काव्य में केवल शब्दालंकार ही झंकार उत्पन्न करता है, अर्थ का भार कम होता है वह बहुत कुछ उसी प्रकार का असान्द्र अनुभूति जनक आवेग-कंपन उत्पन्न करता है जो संगीत करता है पर उसमें संगीत की अबाध गति भी नहीं होती और अर्थ जगत् से संपूर्ण विच्छेद भी नहीं होता क्योंकि उसके शब्द बराबर वाह्य सत्ता से श्रोता का संबंध जोड़ते रहते हैं और स्वर के स्वच्छन्द प्रवाह में वाधा उत्पन्न करते रहते हैं। अर्थभारहीन शब्दालंकार न तो काव्य की गाढ़ अनुभूति ही पैदा करते हैं न संगीत का प्रवाह ही। वे दोनों के केवल घटिया प्रभाव भर उत्पन्न करते हैं। परन्तु जहाँ शब्दालंकार में अर्थ भार बना रहता है वहाँ वे काव्यगत प्रभाव में संगीत की सहजगति भर देते हैं। परन्तु अर्थालङ्कार शब्द के प्राण प्रद और विशेषाधान हेतुक दोनों ही धर्मों में गाढ़ अनुभूति का रस ले आते हैं, हम उनकी सहायता से वक्तव्य के व्यक्तित्व को, गुणों को, और क्रियाओं को गाढ़ भाव से अनुभव करते हैं। पदार्थ के विशेषाधान हेतुक धर्म—चाहे वे सिद्ध हों या साध्य—सादृश्य मूलक अलंकारों से इस प्रकार संमूर्तित होते हैं कि पाठक के चित्त में अनुभूति सहज हो जाती है। वस्तुतः अर्थालंकार जब आवेग-सहत्तर होकर आते हैं तो काव्य में अत्यधिक उर्जस्वल

तेज भर देते हैं पर जब आवेगहीन होकर आते हैं तो चमत्कारी उक्ति भर रह जाते हैं। वे उस अवस्था में बिजली की कौंध के समान एक क्षणिक ज्योति विकीर्ण करके अन्तर्धान हो जाते हैं। यह क्षणिक ज्योति हमारे किसी बड़े काम के काम की नहीं होती केवल ऊपर की चेतना पर मृदुल आघात करके विलीन हो जाती है। बिहारी की अज्ञात यौवना नायिका ने जब अपनी दासी को ईख की दतुअन ले आने के अपराध पर झिड़का था तो उसकी सरलता ने ऐसी ही एक क्षणिक ज्योति उत्पन्न की थी। अधर के माधुर्य से दतुअन कहीं भी मीठी होकर ऊख - सी नहीं लगने लगती। इसीलिये इस दोहे में मृदुकंपन उत्पन्न करने की शक्ति होते हुए भी वह उतना अनुभूति प्रेरक नहीं हो पाया क्योंकि इस कंपन का हेतु वाह्यसत्ता से असंवृक्त होने के कारण स्थायी नहीं होता और न अनुभूति को गाढ़ रंग ही देता है। दोहा इस प्रकार है—

अधर परसि मीठी भई, दई हाथ सो डारि।
लावति दतुअनि ऊख की, नोखी खिजमतिगारि॥

लेकिन प्रश्न यहीं समाप्त नहीं हो जाता। यह कविता भी एक श्रेणी के लोगों को आनंद देती ही है इसीलिये इसे उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता।

अधर का माधुर्य एक श्रेणी की चीज़ है और चीनी का माधुर्य दूसरी श्रेणी की। चीनी के संस्पर्श से कोई वस्तु मीठी हो जाती है पर अधर के संस्पर्श से नहीं होती। होती भी हो तो उस व्यक्ति के लिये तो नहीं ही होती जिसके अधर में यह अद्भुत माधुर्य दिन-रात निवास करता है। किसी और के लिये उक्त अधर से स्पृष्ट वस्तु अमृत से भी मीठी हो जाती हो तो मैं आपत्ति नहीं करूंगा। कविता की चर्चा करते समय मुझसे इतना ठूंठ होने की आशा आप नहीं कर सकते। पर मेरी आपत्ति उसी व्यक्ति को दुतुअनि के मीठी लगने पर है जो स्वयं उस माधुर्य का धनी है। इस प्रकार के चामत्कारिक उक्तियों के मूल में 'माधुर्य'-जैसे लाक्षणिक शब्द हैं। उर्दू का साहित्य इस प्रकार की उक्तियों का समुद्र ही है। सभी देशों में और सभी जातियों में ऐसे शब्द प्रचलित हैं जो अपने मूल अर्थ से खिसक कर भी उससे मिलते जुलते अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। शब्दों में और अर्थों में संस्कार समर्पित रूढ़ि पैदा होती है जो उस देश और उस जाति के साहित्य के समझने के लिये अवश्य ज्ञातव्य होते हैं उन रूढ़ियों के जाने बिना आप किसी साहित्य का रस नहीं ले सकते। रूढ़ि नितान्त निरर्थक नहीं होती, केवल काल प्रवाह में लुढ़कते आने के कारण उसके मूल अर्थ घिसकर अदृश्य हो गए रहते हैं। इन रूढ़ियों से शब्दों को, अर्थों

को और आचारों को एक ऐसा मूल्य मिलता है जो लोककल्पित और अवास्तव होता है। ३१ बार तोप दगने के बजाय यदि राष्ट्रीय ध्वज के सम्मान के अवसर पर ३० बार या २६ बार बजता तो कुछ बन या बिगड़ नहीं जाता। परन्तु किन्ही अज्ञात कारणों ने ३१ की संख्या को एक कल्पित मूल्य दे रखा है कि जो लोक चित्त में आवेग का कंपन पैदा करता है। अधर संस्पर्श से दुतुअन का मीठी हो जाना इसी प्रकार का कल्पित और अवास्तव अर्थ है पर वह भी एक श्रेणी के सहृदय के चित्त में आवेग का कम्पन उत्पन्न करता ही है। एक और सरल उदाहरण लिया जाय—

अति चाह भरी जमुना जल को बरजै पर हू नित ऐवौ करै।
सखि को सुख लख सुनै न कछू अपनी कहि कै मुसुकैबौ करै।
दुति दूनी बढ़ाय 'गुलाब' जबै गुरु लोगन तै न रुकैबौ करै।
नव नागरि रूप उजागरि सो भरी गागरी क्यों ढरकैबौ करै।

इस पद्य में गागरी ढरकाने की जो चर्चा है उसका कारण यह है कि अज्ञात यौवना इस बालिका की आँखें हाल ही में मछली-जैसी हो गई हैं और बिचारी को शारीरिक परिवर्तन का एकदम पता नहीं है। जब जब वह भरी गागरी देखती है तब तब इन कम्बख्त आँखों को छाया पानी में पड़ जाती है और उसे भ्रम होता है कि पानी में मछली आ गई है और ढरका देती है। हर बार ही ऐसा होता है। कहना व्यर्थ है कि इस अर्थ में रूढ़ि द्वारा ही चमत्कार आया है। इस रूढ़ि को समझे बिना रसबोध नहीं हो सकता कि युवावस्था आने के समय किशोरियों की आंखों में मत्स्य धर्मिता आ जाती है।

अर्थ की वक्रिमता को प्रकट करने वाली सूक्तियाँ मनुष्य के चित्त में गुदगुदी जरूर उत्पन्न करती हैं, साहित्य में उनकी आवश्यकता भी होती है। इन सूक्तियों के सहारे कोमलीकृत चित्त में कवि सहज ही भावों को प्रवेश करा देता है।वृहत्तर मानव जीवन को गाढ़ भाव से उपलब्ध कराने में सूक्तियाँ सहायक होती हैं परन्तु उससे विछिन्न होने पर उनकी उपयोगिता कम हो जाती है। नाटक, काव्य और उपन्यास में बहुत उपयोगी होती हैं क्योंकि इनके बिना पाठक का चित्त भाव को ग्रहण करने में तत्परता नहीं दिखाता। श्री हर्षदेव की 'रत्नावली' में एक श्लोक है जिसमें कहा गया है कि वसन्त पहले लोगों के चित्त को कोमल बनाता है और उस कोमलीभूत चित्त में प्रेम का देवता आसानी से अपने फूल के बाणों को चुभो देता है:

इह पढमं महुमासो जनस्स चित्ताइँ कुणइ मिउलाइँ
पच्छा विज्झइ कामो लद्धप्पसरेहिँ बाणेहिँ ॥

भावों की सहायता के लिये सूक्तियाँ भी बहुत कुछ वही काम करती हैं जो वसन्त प्रेम के देवता की सहायता के लिये करता है। छन्द इन सूक्तियों में गति देते हैं और अलंकार शोभा संचार करते हैं। पर सूक्तियाँ मनुष्य के मनोभावों में सहायक होकर ही सरस होती हैं।

केवल गतिमात्र आजाने से वह उद्देश्य सिद्ध नहीं होता जो काव्य का प्रधान उद्देश्य है। गति तो जड़ पिण्डों में भी होती है। यह धरित्री खण्ड न जाने कब से गति शील है लेकिन जड़ता उसकी गति में बाधा पहुँचाती हैं। जड़ पिंड घूम फिरकर एक ही स्थान पर आ जाता है, चेतन आगे निकल जाता है। वर्तुलाकार मार्ग गति में संचारित जड़ धर्म-जन्म बाधा का परिणाम है, वह पद पद पर बाधा पहुँचाता है और जड़ पिंड चक्करदार मार्ग में घूमने को बाध्य होता है। गति के साथ आगे बढ़ना भी आवश्यक है। इसीको 'प्रगति' कहते हैं। यह चेतन की अपनी विशेषता है। जब तक काव्यगत सूक्तियों में यह बात चेतनधर्म नहीं संचरित होता तब तक छन्द उनके गति का वेग भर दे सकते हैं, प्रगति का उत्साह नहीं संचारित कर सकते। जो कवित्व मनुष्य को घुमाफिरा कर जहाँ का तहाँ छोड़ देता है उसमें गति तो है लेकिन प्राण नहीं है। कुछ प्राण भी चाहिए केवल कहना तो कहना नहीं है, कहने की चरितार्थता इस बात में है कि मनुष्य को आत्मधर्म के प्रति सचेतन बनाए। जिस कहने से कहने वाले की वेदना प्रत्यक्ष न हो जाय श्रोता का हृदय सहानुभूति से पूर्ण न हो जाय उसमें स्वाद क्या है भला !—

कवि बोधा कहे में सवाद कहा, को हमारी कही पुनि मानतु है।
हमैं पूरी लगी कि अधूरी लगी, यह जीव हमारोइ जानतु है।

जब कभी मुझे छन्द की, झंकार की और संगीत की इस प्रकार चर्चा करनी पड़ती है तभी हृदय के अन्तस्थल से यह ध्वनि निकलती रहती है—ततः किम्? छन्द भी झंकार की या संगीत की महिमा क्या वृहत्तर जीवन में भी कुछ संतुलन पैदा करती है या वे केवल शब्द और अर्थ के संबंधों को लेकर बौद्धिक कसरत करनेवाले कलाबाजों के आरोपित अवास्तव मूल्य के बल पर ही इतने बड़े गौरव का मुकुट धारण किए हुए हैं? यह प्रश्न अनुचित नहीं है। क्योंकि जिससे जीवन को कुछ ऊपर उठने की शक्ति न मिलती हो, नीचे की ओर गिरने से बचाव न होता हो वह वस्तु बहुत काम की नहीं हो

बंधन-जड़ित भाषा को मनोहर भावरस की ओर जो है देवपीठस्थली मानव जाति की। जिस भांति बांधा है महाम्बुधि ने धरित्री को समावृत कर निरन्तर गान, अविरत नृत्य से; यह छन्द मेरा भी उसी ही भांति आलिंगन-जड़ित कर युग युगांतर को सहज गंभीर कल-रव से प्रचारित करे मानव का अपार अतुल महिम्नस्तोत्र, दे महनीय मर्यादा भुवन में इस क्षणस्थायी निरस नर जन्म को।

"हे देवदूत मुने, पितामह के चरण में यह निवेदन करो मेरी ओर से यह स्वर्ग से जो आ गई है परमनिधि नरलोक को उसको न अब ले जायँ लौटा फिर वहां। है जो अपौरुष छन्द हमको मिला उसने देवता को है मनुज कर दिया, मैं हूँ चाहता देवत्वपद पर उठा देना क्षुद्र मानव को, उठाना चाहता हूँ इस धरा पर स्वर्ग का प्रासाद !!"

यही छन्द की महिमा है, वह मनुष्य को देवता बनाने के संकल्प का आदि वाहक है।

सो, काव्य साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग केवल छन्द के कारण, शब्दालंकारों के कारण और अर्थ वक्रिमा के कारण ही लोकप्रिय हुआ है। पुराने अलंकार शास्त्रों में ऐसे स्थलों के सौंदर्य का निपुण भाव से विचार किया गया है। परन्तु जिन लोगों ने इस चमत्कार की विवेचना की है वे लोग उन्हीं संस्कारों में पले थे जिनमें ऐसी उक्तियों के लेखक पले थे, इसीलिये असगति जन्य आनंद को वे सिद्ध अर्थ मान लेते थे अर्थात् वाक्य के व्याहत और अनुपपन्न अर्थ को लक्षणा या व्यञ्जना के सहारे अव्याहत और उपपन्न कर लेने के बाद इस प्रकार की असंगति की संगति लग जाने में जो एक प्रकार का कौशल प्रकट होता था उसे वे आनंद का कारण स्वीकार कर लेते थे। नाना कारणों से असंगति में संगति लगाकर आनंद पाने के मनोभाव विकसित हुए हैं। हमें उनका ठीक ठीक अध्ययन कर लेना चाहिए। अशोक वृक्ष सुन्दरियों के वाम पद के मृदु आघात से फूल उठता है, इस वस्तु के आधार पर न जाने पुराने भारतीयों ने कितनी रसमयी रचनाएँ लिखी हैं। लेकिन यह विश्वास भारतीय साहित्य में बहुत पुराना नहीं है, बहुत दीर्घकाल तक वह टिका भी नहीं। कालिदास के पूर्व शायद अपरिचित था और मध्ययुग के हिंदी साहित्य में वह नहीं मिलता। मैंने अन्यत्र दिखाया है कि भारतीय सभ्यता में यक्षों की सभ्यता के मिश्रण के बाद यह विश्वास आया। सांची, भरहुत आदि में अशोक वृक्ष में इस प्रकार दोहद उत्पन्न करनेवाली यक्षिणी मूर्तियां अंकित हैं। इधर बताया जाने लगा है कि ये और ऐसी ही अन्य बहुत-सी मूर्तियां शिल्प में कालिदास के प्रभाव को सूचित करती हैं। मुझे दूसरी ही बात सूझती है। ये मूर्तियां उस युग के अत्य-

धिक प्रचलित विश्वास की सूचना देती हैं और कुछ खास बातों के कल्पित मूल्य की ओर इशारा करती हैं। सच्चा कलाकार इन कल्पित मूल्यों का जमकर उपयोग करता है। कालिदास ने ऐसा ही किया था। बाद में कल्पित मूल्य वाली बात भूल गई और आलंकारिकों ने इसे कवि प्रसिद्ध मान लिया। पर यदि इसके आरोप का इतिहास जाना जाय तो कालिदास के काव्य को अधिक गाढ़ भाव से अनुभव किया जा सकता है। अशोक दोहद स्थूल वस्तु का उदाहरण है, इससे अधिक सूक्ष्म वस्तु वे अविच्छिन्न विश्वास हैं जो किसी स्थूल आधार पर टिके नहीं रहते। एक युग के काव्य के मर्म को दूसरे युग का सहृदय तब तक नहीं समझ सकता जब तक इन रूढ़, किन्तु वस्तुतः किसी कारणवश आरोपित, मूल्यों की ठीक ठीक जानकारी न हो। एक देश के काव्य प्रयत्न भी दूसरे देश के काव्य प्रयत्नों की परम्परा जानने वाले सहृदयों के निकट सब समय स्पट नहीं होते। वस्तुतः कल्पित मूल्यों की जानकारी से हम काल और देश की सीमा लांघने का सामर्थ्य पाते हैं। यदि भारतीय समाज की विश्वास,परम्परा का अध्ययन किया जाय की मनुष्य की अद्भुत ग्राहिका शक्ति का पता चल जायगा। हमारे पास जितना भी साधन उपलब्ध है उससे इतना तो स्पष्ट ही जान पड़ता है कि इस देश में भी नाना प्रकार के विश्वास स्वीकार किये गए हैं, भुलाए गए हैं और झाड़कर फेंक दिए गए हैं। भारतीय चित्त आज जैसा है वैसा ही सदा नहीं रहा। संस्कार भी सदा वैसे ही नहीं रहे, सब समय ऐसे रहेंगे भी नहीं। नए विश्वास आयेंगे, नए कल्पित मूल्य स्वीकार किए जाएँगे और नये रास्ते से आवेग का रथ 'भारतीय' कहे जानेवाले चित्त में अबाध भाव से प्रवेश करेंगे। भारतीयता का प्रेमी जब नये अँग्रेजी पढ़े लड़कों को यह कहकर भर्त्सना करते हैं कि इनमें कुछ भी भारतीय नहीं हैं, कुछ भी ऐसा नहीं बचा है जो पाश्चात्य प्रभाव से कलुषित न हो गया हो तो वे अप्रत्यक्ष रूप से यही स्वीकार करते हैं कि भारतीय संस्कार भी परिवर्तनशील हैं और भारतवर्ष में ऐसे व्यक्ति आसानी से पैदा किए जा सकते हैं जो एकदम भारतीय हों ही नहीं।

फिर यूरोपीय प्रभाव होने-मात्र से कोई चीज़ अस्पृश्य नहीं हो जाती। प्रेमचन्द की कहानियां वैतालपचीसी या गुलबकावली के ढंग की न होकर आधुनिक यूरोपीय कहानियों के ढंग की हुई हैं इतना कह देने से प्रेमचंद का महत्त्व कम नहीं हो जाता। रामचन्द्र शुक्ल के साहित्यिक निबंध काव्य प्रकाश की शैली पर या कविप्रिया की शैली पर न लिखे जाकर अगर यूरोपियन समालोचकों के ढंग पर लिखे गए हैं तो इससे उनका महत्त्व घट

बंधन-जड़ित भाषा को मनोहर भावरस की ओर जो है देवपीठस्थली मानव जाति की। जिस भांति बांधा है महाम्बुधि ने धरित्री को समावृत कर निरन्तर गान, अविरत नृत्य से; यह छन्द मेरा भी उसी ही भांति आलिंगन-जड़ित कर युग युगांतर को सहज गंभीर कल-रव से प्रचारित करे मानव का अपार;अतुल महिम्नस्तोत्र, दे महनीय मर्यादा भुवन में इस क्षणस्थायी निरस नर जन्म को।

"हे देवदूत मुने, पितामह के चरण में यह निवेदन करो मेरी ओर से यह स्वर्ग से जो आ गई है परमनिधि नरलोक को उसको न अब ले जायँ लौटा फिर वहां। है जो अपौरुष छन्द हमको मिला उसने देवता को है मनुज कर दिया, मैं हूँ चाहता देवत्वपद पर उठा देना क्षुद्र मानव को, उठाना चाहता हूँ इस धरा पर स्वर्ग का प्रासाद !!"

यही छन्द की महिमा है, वह मनुष्य को देवता बनाने के संकल्प का आदि वाहक है।

सो, काव्य साहित्य का एक बहुत वड़ा भाग केवल छन्द के कारण, शब्दालंकारों के कारण और अर्थ वक्रिमा के कारण ही लोकप्रिय हुआ है। पुराने अलंकार शास्त्रों में ऐसे स्थलों के सौंदर्य का निपुण भाव से विचार किया गया है। परन्तु जिन लोगों ने इस चमत्कार की विवेचना की है वे लोग उन्हीं संस्कारों में पले थे जिनमें ऐसी उक्तियों के लेखक पले थे, इसीलिये असगति जन्य आनंद को वे सिद्ध अर्थ मान लेते थे अर्थात् वाक्य के व्याहत और अनुपपन्न अर्थ को लक्षणा या व्यञ्जना के सहारे अव्याहत और उपपन्न कर लेने के बाद इस प्रकार की असंगति की संगति लग जाने में जो एक प्रकार का कौशल प्रकट होता था उसे वे आनंद का कारण स्वीकार कर लेते थे। नाना कारणों से असंगति में संगति लगाकर आनंद पाने के मनोभाव विकसित हुए हैं। हमें उनका ठीक ठीक अध्ययन कर लेना चाहिए। अशोक वृक्ष सुन्दरियों के वाम पद के मृदु आघात से फूल उठता है, इस वस्तु के आधार पर न जाने पुराने भारतीयों ने कितनी रसमयी रचनाएँ लिखी हैं। लेकिन यह विश्वास भारतीय साहित्य में बहुत पुराना नहीं है, बहुत दीर्घकाल तक वह टिका भी नहीं। कालिदास के पूर्व शायद अपरिचित था और मध्ययुग के हिंदी साहित्य में वह नहीं मिलता। मैंने अन्यत्र दिखाया है कि भारतीय सभ्यता में यक्षों की सभ्यता के मिश्रण के बाद यह विश्वास आया। सांची, भरहुत आदि में अशोक वृक्ष में इस प्रकार दोहद उत्पन्न करनेवाली भक्षिणी मूर्तियां अंकित हैं। इधर बताया जाने लगा है कि ये और ऐसी ही अन्य बहुत-सी मूर्तियां शिल्प में कालिदास के प्रभाव को सूचित करती हैं। मुझे दूसरी ही बात सूझती है। ये मूर्तियां उस युग के अत्य-

धिक प्रचलित विश्वास की सूचना देती हैं और कुछ खास बातों के कल्पित मूल्य की ओर इशारा करती हैं। सच्चा कलाकार इन कल्पित मूल्यों का जमकर उपयोग करता है। कालिदास ने ऐसा ही किया था। बाद में कल्पित मूल्य वाली बात भूल गई और आलंकारिकों ने इसे कवि प्रसिद्ध मान लिया। पर यदि इसके आरोप का इतिहास जाना जाय तो कालिदास के काव्य को अधिक गाढ़ भाव से अनुभव किया जा सकता है। अशोक दोहद स्थूल वस्तु का उदाहरण है, इससे अधिक सूक्ष्म वस्तु वे अविच्छिन्न विश्वास हैं जो किसी स्थूल आधार पर टिके नहीं रहते। एक युग के काव्य के मर्म को दूसरे युग का सहृदय तब तक नहीं समझ सकता जब तक इन रूढ़, किन्तु वस्तुतः किसी कारणवश आरोपित, मूल्यों की ठीक ठीक जानकारी न हो। एक देश के काव्य प्रयत्न भी दूसरे देश के काव्य प्रयत्नों की परम्परा जानने वाले सहृदयों के निकट सब समय स्पष्ट नहीं होते। वस्तुतः कल्पित मूल्यों की जानकारी से हम काल और देश की सीमा लांघने का सामर्थ्य पाते हैं। यदि भारतीय समाज की विश्वास,परम्परा का अध्ययन किया जाय की मनुष्य की अद्भुत ग्राहिका शक्ति का पता चल जायगा। हमारे पास जितना भी साधन उपलब्ध है उससे इतना तो स्पष्ट ही जान पड़ता है कि इस देश में भी नाना प्रकार के विश्वास स्वीकार किये गए हैं, भुलाए गए हैं और झाड़कर फेंक दिए गए हैं। भारतीय चित्त आज जैसा है वैसा ही सदा नहीं रहा। संस्कार भी सदा वैसे ही नहीं रहे, सब समय ऐसे रहेंगे भी नहीं। नए विश्वास आयेंगे, नए कल्पित मूल्य स्वीकार किए जाएँगे और नये रास्ते से आवेग का रथ 'भारतीय' कहे जानेवाले चित्त में अबाध भाव से प्रवेश करेंगे। भारतीयता का प्रेमी जब नये-अँग्रेजी पढ़े लड़कों को यह कहकर भर्त्सना करते हैं कि इनमें कुछ भी भारतीय नहीं हैं, कुछ भी ऐसा नहीं बचा है जो पाश्चात्य प्रभाव से कलुषित न हो गया हो तो वे अप्रत्यक्ष रूप से यही स्वीकार करते हैं कि भारतीय संस्कार भी परिवर्तनशील हैं और भारतवर्ष में ऐसे व्यक्ति आसानी से पैदा किए जा सकते हैं जो एकदम भारतीय हों ही नहीं।

फिर यूरोपीय प्रभाव होने-मात्र से कोई चीज़ अस्पृश्य नहीं हो जाती। प्रेमचन्द की कहानियां वैतालपचीसी या गुलबकावली के ढंग की न होकर आधुनिक यूरोपीय कहानियों के ढंग की हुई हैं इतना कह देने से प्रेमचंद का महत्त्व कम नहीं हो जाता। रामचन्द्र शुक्ल के साहित्यिक निबंध काव्य प्रकाश की शैली पर या कविप्रिया की शैली पर न लिखे जाकर अगर यूरोपियन समालोचकों के ढंग पर लिखे गए हैं तो इससे उनका महत्त्व घट

नहीं जाता। प्राण चाहिए। जहाँ प्राण का उच्छलित तेज होता है वहां यह बात गौण हो जाती है कि वाह्य ढांचा किस देश या किस जाति से लिया गया है। फिर जो लोग यह मानते है कि देश विशेष के मनुष्य को अपने आप में ही सन्तुष्ट और सीमा बद्ध रहना चाहिए, किसी अन्य देश के मनुष्य से कुछ ग्रहण ही नहीं करना चाहिए, वे मनुष्य की मूल एकता में ही विश्वास नहीं रखते। आज हम साहित्य की जिस ढंग से चर्चा करते हैं वह पुराने भारतीय ढंग के अनुरूप न होकर यूरोप के आधुनिक ढंगों के अनुरूप हैं। हमारे समाचार पत्र और साहित्यिक पत्रिकाएँ यूरोपियन प्रभाव हैं, हमारी गद्यात्मक आलोचना शैली यूरोपियन प्रभाव है हमारे कॉमा, फुलस्टॉफ तक में यूरोपियन प्रभाव है। प्रभाव तो मनुष्य पर तब तक पड़ेगा, जब तक उसमें जीवन है। जहां जीवन का वेग अधिक है, प्राण धारा का बहाव तेज है उसी स्थान से उसका ऐश्वर्य छितराएगा ही। आलोक सीमा में बंधना नहीं चाहता, उसका धर्म ही प्रकाशित होना और प्रकाशित करना है। किसी समय भारतवर्ष में भी यह जीवन का ऐश्वर्य था। कहां उसका प्रकाश नहीं फैला? चीन, जापान, अरब, यूनान, मिश्र, ईरान जहां कही भी लोगों में प्रकाश सहन करने की शक्ति थी वहीं इसने अपना प्रभाव विस्तार किया। आज यदि यूरोप ने तपस्या की है, उसके जीवन में ऐश्वर्य का आलोक प्रकट हुआ है तो आग भी फैलैगी ही और लोग भी ग्रहण करेंगे ही। भारतवर्ष ने उसे अगर ग्रहण किया है तो इसमें लज्जा की कौन-सी बात है? लज्जा प्रकाश ग्रहण करने में नहीं होती अन्धानुकरण में होती है। अविवेकपूर्ण ढंग से जो भी सामने पड़ गया उसे सिर माथे चढ़ा लेना, अंध भाव से अनुकरण करना, जातिगत हीनता का परिणाम हैं। जहां मनुष्य विवेक को ताक पर रख कर सब कुछ की अंध भाव से नकल करता है वहां उसका मानसिक दैन्य और सांस्कृतिक दारिद्रय प्रकट होता है, किन्तु जहां वह सोच समझ कर ग्रहण करता है और अपनी त्रुटियों को कम करने का प्रयत्न करता है वहां वह अपने जीवन्त स्वभाव का परिचय देता है। विवेक दाता की पहिचान की शक्ति देता है, अन्धानुकरण दान की ओर सतृण भाव से झुकाता है। दातृत्त्व तपस्या से प्राप्त होता है, अविवेक साधना के अभाव से उपजता है। यूरोप जितनी दूर तक तपस्वी है उतनी दूर तक दाता भी बन सकता है। जहां वह तपस्या से चालित न होकर तृष्णा से, मोह से, लोभ से चालित हो हो रहा है, वहां वह स्वयं दीन है, वहां उसमें ऐश्वर का अभाव है। जहां तक उसमें तपोलब्ध दातृ धर्म है वहां वह सबका सम्मान भाजन है। सब कुछ को बटोर लेने की प्रवृत्ति गलत है, मनुष्यता को उदार बनाने वाले ऐश्वर्य से प्रभावित होना नहीं। वस्तुतः

जो राष्ट्र जीवन रस से भरा है यह प्रभावों से डरता नहीं फिरता। वह खुली आंखों से जगत् के समस्त पदार्थों को, धर्मों को, मतों को, काव्यों को, चित्रों को देखता है और उसके जीवन की पूर्ति के लिये जो आवश्यक होता है उसे ग्रहण करता हैं और अपने आप जीवन रस की परिपूर्णता के कारण जो ऐश्वर्य आलोकित हो उठता है उसे दूसरों को देता रहता है। देने में और लेने में विवेक की शरण जाना चाहिए संस्कारों की नहीं। लेकिन ठीक ठीक विवेक के लिये हमें अपने और पराए संस्कारों की नहीं। लेकिन ठीक ठीक विवेक के लिये हमें अपने और पराए संस्कारों का ज्ञान चाहिए।

यह दुर्भाग्य की बात है कि पिछली राजनीतिक दासता के कारण भारतीय जनता के चित्त में एक प्रकार की हीनता ग्रन्थि पैदा हो गई। अंग्रेजों के दातृत्व की योग्यता की परीक्षा किये बिना हमने उनका अंधाधुंध अनुकरण किया है। दान बटोरने की ऐसी हास्यास्पद प्रवृत्ति शायद ही इतिहास में इतने उग्र रूप में दिखी हो। आज राजनीतिक दासता समाप्त हो गई है, पर मानसिक दासता ज्यों की त्यों बनी हुई है। ब्रज की गोपिका की आंखों में एक बार अहीर के प्रसिद्ध बालक ने एक मुट्ठी अबीर फेंक दी थी। जैसे तैसे वह अबीर तो आंखों में से निकल गया पर अहीर का छोकरा जो जम के बैठा सो बैठा, किसी प्रकार नहीं निकल सका—

एरी मेरी बीर जैसे तैसे इन आँखिन सों
कढ़िगो अबीर पै अहीर कौ कढ़ै नहीं !

कुछ इसी तरह का हाल भारतीय शिक्षित चित्र का है। अंग्रेजी शासन तो निकल गया पर अंग्रेज अभी जमा है। हर बात में वे अपने को अनाथ और अरक्षित बालक समझ रहे हैं। अंग्रेजों की सिखाई हुई बोली भूल गई तो क्या होगा ? अंग्रेजों की बताई हुई पढ़ाई की नहर सूख गई तो क्या होगा ? अंग्रेजों की रटाई हुई कानूनी बोली अगर नहीं रही तो क्या होगा ? मानसिक दासता का ऐसा जबर्दस्त भूत सिर पर सवार है कि हम भूल ही गये हैं कि हम दुनिया की सब से प्राचीन सभ्यता के धनी हैं, हजार हजार वर्षों से हमारी अपनी भाषा रही है, विद्वत्ता रही है, शासन व्यवस्था रही है, शिक्षा व्यवस्था रही है। नवीन समस्याएं भी आई हैं और नवीन ज्ञान भी हमें लेना है पर हम न तो नौसिखुए हैं न असहाय हैं। एक बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया भी हो रही है। लोग यह कहते हैं कि जो कुछ अंग्रेजों के संसर्ग से आया है, सब बुरा है, सब त्याज्य है। इन दो चरम

अन्तों से बचने का प्रयत्न होना चाहिए। इसीलिये अपने और पराए संस्कारों तथा वास्तविक मानवीय मूल्यों का विवेक अत्यन्त आवश्यक हो गया है।

उद्देश्य क्या है ?

संस्कारों के समझने से मनुष्य दूसरे देश और दूसरे काल के साहित्य को समझ सकता है। ततः किम् ? क्या होगा इस प्रकार देश और काल की सीमा को लाँघ जाने की स्पर्द्धित मनोवृत्ति को बढ़ावा दे कर ? वस्तुतः समाज के सर्वांगीण विकास के वैज्ञानिक अध्ययन को बढ़ावा देने का एक ही उद्देश्य हो सकता है—ऊपरी भेद - विभेदों के तल देश में स्तब्ध भाव से विराजमान मानव जाति की अन्तर्निहित एकता की उपलब्धि। परन्तु इसी की क्या आवश्यकता है ? हम अपने अगले व्याख्यान में इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न करेंगे। यहां इतना ही कह रखना आवश्यक है कि आज समूचे जगत् में जिस मानवीय संस्कृति की प्रतिष्ठा के बिना सभ्यता का अस्तित्व ही खतरे में पड़ा हुआ दिखाई दे रहा है, जिसके बिना समूची मनुष्यता विनाश के गहन वात्याचक्र में उलझने को लाचार हो गई है, उसकी प्रतिष्ठा इस प्रकार की उपलब्धि के बिना नहीं हो सकती। जीवविज्ञान और मनोविज्ञान आदि शास्त्रों ने मनुष्य की एकरूपता को अच्छी तरह प्रमाणित कर दिया है लेकिन सामाजिक रीति - नीति और संस्कारों के अध्ययन से मनुष्य की दृष्टि और भी उदार बनेगी और देश तथा काल की सीमा को लांघकर सौंदर्य और माधुर्य का रस ले सकने का सामर्थ्य इस मानवीय संस्कृति की नींव को मजबूत करेगा। आज भी ऐसे महामानव मिल जाते हैं जो देश और काल की संकीर्ण सीमाओं को भेद कर यथार्थ मानवधर्म को समझ लेते हैं। हमारे देश के रवीन्द्रनाथ और गांधी जी ऐसे ही नर-रत्न थे। परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। इस दृष्टि की प्रतिष्ठा के लिये देशव्यापी प्रयत्न करने होंगे। छोटी छोटी सीमाओं में आबद्ध जातीय या राष्ट्रीय ठसक उस गंभीर संस्कृति के अभाव की परिचायिका है, जो मनुष्य की विचार धारा का ऐश्वर्य है। देश और काल की सीमाओं को बहुमूल्य नाम देकर मनुष्य की अन्तर्निहित एकता के विरुद्ध सोचने का अभ्यास मानव-विकास के इतिहास को न जानने की निशानी है। प्रयत्न करने से इस त्रुटि की पूर्ति हो सकती है। उस प्रयत्न की ओर मनुष्य जाति को उद्बुद्ध करना वाञ्छनीय है। मनुष्य की जो सबसे सूक्ष्म और महनीय साधना है उसीका प्रकाश साहित्य है। उसके अध्ययन से उद्देश्य सहज-साध्य होगा। सभ्यता और संस्कृतियों के इतिहास से यही तथ्य प्रकट होता है कि मनुष्य

समस्त संस्कारों, समस्त आरोपित मूल्यों और समस्त रीति रस्मों से बड़ा है। मनुष्यता की निरन्तर प्रवहमान धारा नाना मूलों से शक्ति संग्रह करती हुई आगे बढ़ती आ रही है। मनुष्य का इतिहास इन्हीं साधनाओं का इतिहास है। उसने आदिम कही जाने वाली मनोवृत्तियों के हाथ अपने को नहीं छोड़ दिया, प्रयोजन की संकीर्णता की बेड़ियों से अपने को नहीं बंधने दिया, मृत्यु के नागपाश में अपने को नहीं फंसने दिया। सब कुछ को रौंदकर सब कुछ को छोड़कर वह न जाने किस विजययात्रा के लिए निकल पड़ा है। ऋषि के शब्दों में कहने की इच्छा होती है —

"गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि न मानुष्याच्छ्रेष्ठतरंहिकिंचित्।"

[तुम्हें यह गुप्त रहस्य बताता हूँ, मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।]

[३]

काव्य की इस अपूर्व शक्ति का आश्रय क्या है ? किसके बल से बलीयान् होकर काव्य का यह उद्गीत रूप इतना मनोहर और इतना आकर्षक हो जाता है ?

इस प्रसंग में मुझे छान्दोग्य उपनिषद् के प्रथम अध्याय के आठवें और नवें खण्ड में दी हुई एक कथा का स्मरण हो आता है। इस कथा में एक बहुत पुराने शास्त्रार्थ विचार का विवरण मिलता है। प्रसिद्ध है कि तीन ऋषि उद्गीथ-तत्व के बहुत अच्छे जानकार थे। उनमें दो तो ब्राह्मण थे और तीसरे क्षत्रीय थे। ब्राह्मण ऋषियों में प्रथम थे शालावान् के पुत्र शिलक और दूसरे थे चिकितायन के पुत्र दाल्भ्य। क्षत्रिय ऋषि जीवल के पुत्र प्रवाहण थे। तीनों उद्गीथ-विद्या के मर्मज्ञ थे। एक बार इन लोगों में इस तत्व के आश्रय के संबंध में विचार हुआ। शिलक ने प्रश्नों का उत्तर देते हुए दालभ्य ऋषि ने बताया था कि साम का आश्रय स्वर है, स्वर का आश्रय प्राण है, प्राण का आश्रय जल है, और जल का आश्रय स्वर्ग-लोक है। इसके आगे प्रश्न नहीं करना चाहिए क्योंकि साम को 'स्वर्ग-लोक' कहकर ही स्तुति की गई है--स्वर्गो वै लोकः सामवेदः !

किन्तु शालावान् के पुत्र शिलक, चिकितायन के पुत्र दाल्भ्य के इस कथन से सहमत नहीं हो सके। यह कैसे हो सकता है कि स्वर्गलोक ही अन्तिम सत्य हो ? उन्होंने शिलक के प्रश्न के उत्तर में कहा था—स्वर्ग-लोक का आश्रय मनुष्यलोक है—यह मिट्टी की धरित्री है। शिलक ने बाद में दाल्भ्य के ढंग पर ही स्वीकार किया कि इसके आगे प्रश्न करना अनुचित है। सब की प्रतिष्ठा रूप इस मनुष्य लोक की प्रतिष्ठा और क्या हो सकती है ? साम की, पृथ्वी कहकर ही, स्तुति की गई है—इयं वै रथन्तरम् ! सो साम का चरम आश्रय यह मनुष्य लोक ही है।

जीवल के पुत्र प्रवाहण को यह भी चरम आश्रय नहीं जान पड़ा। बोले—मनुष्यलोक ही अन्तिम सत्य नहीं है। मनुष्यलोक की भी कोई गति होनी चाहिए। यह कैसे मान

लिया जाय कि इसके आगे कुछ है ही नहीं ? वस्तुतः इसका भी आश्रय आकाश है। भूतमात्र आकाश में ही उत्पन्न होते हैं, आकाश में ही विलीन होते हैं। आकाश सबसे बड़ा है। आकाश ही परम आश्रय है।

> सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्मन्त आकाशं प्रत्यस्तं
> यन्त्याकाश एवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम् ॥

यह विचार आज से कई हजार वर्ष पहले हुआ था। तब से दुनिया के ज्ञान-साधनों में बहुत परिवर्तन हुआ है, विद्वानों के तर्क कर्कश मस्तिष्कों ने इस प्रश्न पर कई दिशाओं से आक्रमण किया है, पर आश्चर्य यह है हम आज भी इन्हीं तीन उत्तरों की जुगाली करते जा रहे हैं। घूम फिरकर इन्हीं में से किसी एक पर आकर मनुष्य का मस्तिष्क टिकता है। कहने का ढंग और है, भाषा का रूप और तर्क की विधियां और हैं, पर उत्तर यही हैं।

बहुत से विचारकों ने बताया है कि काव्य में कवि के द्वारा प्रयुक्त शब्दों में, छन्दों में, यमक-अनुप्रासों में और समूची पदसंघट्टना में एक ऐसी विचित्र शक्ति होती है जो इस दुनिया से ग्रहण की हुई सामग्रियों के उपादान से ही पाठक के चित्त में एक मनोरम कल्पलोक का निर्माण करती है। यह लोक इस दुनिया में अनुभूत सुख-दुःखों के समान-धर्मा सुख-दुःखों से ही निर्मित होता है और इसीलिये इस दुनियां के समानान्तर ही कहा जा सकता है, परन्तु वह इससे ऊपर होता है और स्थूल जगत् के झमेलों से मुक्त होता है। काव्य के पंख पर केवल मनोभाव ही ऊपर उड़ सकते हैं, स्थूल भार नीचे ही पड़ा रह जाता है, फल यह होता है कि यहां के सभी मनोभाव वहां आनन्द ही उत्पन्न करते हैं हास भी, रोदन भी, असूया भी, जुगुप्सा! इन मनोभावों के लौकिक रूप में दुनिया के स्थूल और मलिन पदार्थ मिल जाते है परन्तु कवि निर्मित अलौकिक रूप में यह स्थूल और मलिन पदार्थ असंपृक्त रह जाते हैं इसीलिये आनन्द भी अनाविल और सूक्ष्म होता है। वह कवि का निर्मित जगत् है, उसकी निखरी हुई रुचि की छलनी से सब मलिनता छन जाती है। और अपूर्व रसलोक की सृष्टि होती है। यहां का प्रजापति कवि ही है उसे जैसा रुचता है; वैसा ही जगत को बनना पड़ता है।

> अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः
> यथास्मै रोचते विश्वं तथैतत् प्रतिपद्यते ।

बात यह है कि काव्य में एक बड़ा भारी गुण साधारणीकरण का होता है। जब आप लोक में कहते हैं कि 'हे ब्राह्मण, तुम्हारे घर पुत्र उत्पन्न हुआ है' तो इस वाक्य के श्रवण से ब्राह्मण के मन में भी एक प्रकार का आनन्द होता है, पर यह आनन्द अपने विशुद्ध रूप से नहीं आता। इसके साथ ही साथ इसके अनेक सहवर्ती झमेले भी ब्राह्मण को भुगतने पड़ते हैं, फिर यह आनंद ब्राह्मण के अपने मन तक ही सीमित होता है। इसलिये यह लौकिक है। लोक की स्थूल आवश्यकताएँ इसे न तो ऊपर उड़ने देती हैं, न सबके हृदय को समान भाव से आन्दोलित करने देती हैं। काव्य में यदि कोई ऐसा ही प्रसंग आता तो वह पाठक को इससे भिन्न कोटि की अनुभूति देता। वह आनन्द सर्वजन भोग्य तो होता ही, उसमें से लौकिक स्थूल अंश भी छन गए होते। इसी अर्थ में वह अलौकिक आनंद होता। काव्य के शब्दों में पाठक को रजोगुण और तमोगुण के पचड़े से हटाकर सत्त्वस्थ करने की शक्ति होती है। उसे आनंद के साथ उसके सहवर्ती स्थूल उपादानों की लपेट में नहीं आना पड़ता। उसका आनंद विशुद्ध मानसिक आनंद होता है। बड़े बड़े आचार्यों का तो कहना है कि काव्य वस्तुतः पाठक की चेतना का आवरण हटा देता है और वह अपने ही अनुभूत भावों का आस्वादन करता है। उसे बाहर की किसी भी अन्य सहायता की जरूरत नहीं होती। सचमुच ही यह काव्य लोक अपूर्व है। मेघदूत की अलकापुरी के सामान इसमें आनंद ही आनंद है। आँसू अगर हैं भी तो आनंद के ही, ताप अगर हैं भी तो प्रेम के देवता के मृदुलाघात के ही, वियोगबाधाएँ हैं भी तो केवल प्रणय कलह की ही और यौवन के सिवा दूसरी अवस्था को तो लोग वहां जानते ही नहीं—

आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तै—
नन्यिस्तापः कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्यात्।
नाप्यन्यस्मात् प्रणय कलहाद्विप्रयोगोपपत्ति—
र्वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति

इस प्रकार यह काव्य लोक वस्तुतः ही मनुष्य का बनाया हुआ स्वर्ग लोक है—स्वर्गो वै लोकः सामवेदः।

किन्तु इस प्रकार मानने वाले भी यह मानते ही हैं कि सभी काव्य इस प्रकार का अपूर्व रस मन में संचार नहीं कर पाते। कुछ कम कर पाते हैं, कुछ अधिक कर पाते हैं दोष रसों के अपकर्षक होते हैं और सब काव्य उनसे मुक्त नहीं हो पाते। रह रह कर पृथ्वी

का आकर्षण कवि निर्मित स्वर्गलोक में भी कंपन उत्पन्न करता है। स्थूल अनुभूतियां उसे धरती की मिट्टी तक घसीट लाती हैं। फिर सब लोग एक ही काव्य से एक ही प्रकार का आनन्द नहीं पा सकते। जिस सहृदय के हृदय में स्थायी भावों की अनुभूति जितनी ही अधिक होगी वह उतने ही गाढ़ भाव से रस का अनुभव कर सकेगा। जो साहित्य शास्त्र का मर्मज्ञ है उसी के चित्त में कवि की सरस वाणी प्रसार पाती है। जल छोड़ कर और किस स्थान पर तैल बिंदु फैल सकता है?

विना न साहित्य विदा परत्र गुणाः कथंचित् प्रथते कवीनाम्
आलंबते तत्क्षमम्भसीव विस्तार मन्यत्र न तैल विन्दुः

परन्तु ऐसा क्यों होता है? निश्चय ही कवि का रस-लोक अपने आप में परिपूर्ण नहीं होता। उसे मनुष्य का ग्राहक हृदय चाहिए। सहृदय चित्त ही उसका आनंद ले सकता है। और फिर यह प्रश्न होता है कि कवि के काव्य की अच्छाई बुराई का, उत्तमता-मध्यमता का निर्णायक कौन है? निश्चय ही साहित्य शास्त्र का पारखी मनुष्य ही विवेचना करेगा कि कौन-सा काव्य अच्छा है, कौन-सा काम अच्छा और कौन सा एक-दम अच्छा नहीं। मनुष्य ही तो इस काव्य के कल्पलोक का पारखी है। क्या प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह जिस किसी भी काव्य को बुरा कह दे? या फिर और सीधा प्रश्न यह है कि काव्य की अच्छाई-बुराई क्या हर आदमी अपनी अपनी रसानुभूति के आधार पर बता सकता है? निश्चय ही नहीं। प्रत्येक व्यक्ति समान भाव से रस वस्तु को नहीं समझ पाता, उसे समझने के लिये भी शिक्षा चाहिए, संस्कार चाहिए, साधना चाहिए। दुनियां में ऐसे उदाहरण बहुत हैं कि एक ही कवि को किसी ने बहुत उत्तम कहा है और किसी ने एकदम निकृष्ट। किसी ज़माने में शेक्सपियर की बहुत प्रशंसा किया करते थे, उन्हीं दिनों फ्रांस के लोग यह भी मानने को तैयार नहीं थे कि शेक्सपियर को नाटक के एक अक्षर का भी ज्ञान है। एक बार पुरस्कार के निर्णयकों में से एक ने एक पुस्तक पर अस्सी नंबर दिए थे, दूसरे ने शून्य! ऐसे उदाहरण एक दो नहीं सैकड़ों खोजे जा सकते है। हिंदी साहित्य एक पीढ़ी पहले बड़ी सरगर्मी के साथ विचार कर रहा था कि बिहारी संसार के श्रेष्ठ कवि हैं या देव? मजमून छीनने की योग्यता किसमें अधिक है और कल्पना की उड़ान में कौन किसे धकेल कर ऊपर उड़ जाता है? कोई भी विचारक किसी से कम गंभीर नहीं था, किसी के माथे पर कम शिकन नहीं थी और किसी की भृकुटि कम कुंचित नहीं थी। नितांत

हाल में न जाने कितने कवि प्रगतिवादी कहकर तेजी से अपनी ओर खींचे गए हैं और फिर सौगुनी तेज़ी से प्रतिक्रियावादी कहकर दूर फेंक दिए गए हैं—बहुत कुछ रहीम के हरि को तरह जिन्होंने कमान की तरह एक बार अपनी ओर खींच लिया था और फिर दूर फेंक दिया था :

हरि रहीम ऐसी करी ज्यों कमान सर पूरि
खैंचि आपनी ओर को डारि दिए पुनि दूरि।

यह सब ठीक है। लेकिन फिर भी इन समस्त परस्पर विरुद्ध जानेवाली सम्मतियों के होते हुए भी दूसरे तरह के उदाहरण हैं जो उल्टी दिशा में सोचने को बाध्य करते हैं। कालिदास का शाकुन्तल भारतीय सहृदयों के गले का हार रहा है किन्तु उसका अत्यन्त त्रुटिपूर्ण अनुवाद समुद्र पार के सहृदय को वाचाल बना सका, जर्मनी के सर्वश्रेष्ठ कवि गेटे ने अपना संपूर्ण हृदय ढालकर उसकी प्रशंसा की। पंचतंत्र की कहानियों ने देश की, धर्म की, संस्कृति की, भाषा की, सब कुछ की दीवाल को एक ही धक्के में धूलिसात् कर दिया है; उमर खय्याम की रुबाइयों ने विधि निषेधों की अत्यंत संकीर्ण सीमाओं को तोड़कर भी मनुष्य का हृदय जीता है; शेक्सपियर के नाटकों में एकदम विरुद्ध समझी जानेवाली संस्कृतियों के उपासकों का मन हरण किया है। यह नहीं कहा जा सकता कि सुन्दर वस्तु केवल व्यक्तियों के मन की कल्पना है। ग्रीस देश की मूर्तियां संसार के सभी पारखियों का आदर पा सकीं हैं, नटराज की मूर्ति ने मूर्ति-पूजा के विरोधियों का भी हृदय गलाया है, ताजमहल और कोणार्क मंदिर यद्यपि दो बिल्कुल विरुद्ध मनोभाव के उद्भूत हुए हैं पर संसार के पारखी मात्र उन्हें देखकर मुग्ध हुए हैं, अजन्ता के चित्रों ने धर्म के मिथ्याभिमान का आवरण आसानी से दूर कर के सहृदयों का सम्मान प्राप्त किया है, ईरान के गलीचों और पात्रों ने किस देश के सहृदय को नहीं तरसा दिया? निश्चय ही सौंदर्य का भी एक ऐसा समान मान है, जो व्यक्ति की मानसिक कल्पना नहीं है और न, इस प्रकार की झूठी उन्मादना ही है जिसे अत्यन्त आधुनिक काल में श्रेणी विशेष की चाल बाजियों की उपज माना जाने लगा है। काव्य में भी एक प्रकार का सौंदर्य होता है, जो सहृदय को प्रभावित करता है। वह सौंदर्य क्या है, कैसे उत्पन्न होता है, किस प्रकार मनुष्य के चित्त को आस्वादग्राही बनाता है, ये प्रश्न नाना भाव से विद्वानों के बौद्धिक विनोद को उकसाते रहे हैं। प्रश्नों का तांता यहीं समाप्त नहीं हो जाता। क्यों कि मनुष्य जो कुछ भी जानता है वह मनुष्य का अपना ही समझा हुआ सत्य है। उसे जितने

ही इन्द्रिय प्रकृति ने दिये हैं उनके विषय कुछ थोड़े से ही हैं; इन इन्द्रियार्थों को भी मनुष्य पूरी तरह से नहीं जनता। इनके अतिरिक्त यदि कुछ हो तो वह एकनम ही अज्ञात है। क्या मनुष्य की जानी हुई अत्यन्त सीमित परिधि में जो सत्य प्रकट हो रहे हैं वही चरम सत्य हैं? किसी दिन जब मनुष्य कम जानता था तब उसने मान लिया था कि सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूम रहा है। अब उसने कुछ अधिक जाना है तो मानने लगा है कि पृथ्वी ही सूर्य के चारों ओर घूम रही है क्या ठिकाना है, कि यही मनुष्य का अन्तिम निर्णय हो। जब जानी हुई दुनिया का यह हाल है तो अनजानी दुनिया का इस विशाल विपुल व्योम के अन्तरवर्ती कोटि कोटि अनजाने लोकों की तो बात ही करना बेकार है? शिलक ने ठीक ही कहा था कि यह मनुष्य लोक ही साम का आश्रय है पर प्रवम्हण ने यह कहकर कि आकाश ही मनुष्य लोक का आश्रय है, और भी बड़ी सचाई की ओर इशारा किया था, और भी बड़ी सचाई—जिसे हम सोच नहीं सकते। तो क्या फिर भी बड़ी या छोटी होती है, अच्छी या बुरी होती है, गलत या सही होती है? साधारणतः मनुष्य की बुद्धि इतना ही सोच पाती है कि सचाई सचाई है, वह एक और अविरोधी होती है, छोटी हो तो, बड़ी हो तो सचाई सचाई है, शालिग्राम की बटिया क्या छोटी क्या बड़ी! परन्तु फिर भी सन्तोष नहीं होता।

परन्तु ये प्रश्न काव्यालोचना से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रखते। ये तत्वज्ञान के विषय हैं। यद्यपि आज तक कोई तत्ववेत्ता इन प्रश्नों का ठीक ठीक उत्तर नहीं दे सका लेकिन उत्तर देने के व्याज से उन्होंने कुछ-न-कुछ अच्छी अनुमिति मूलक प्रतिज्ञाओं की अवतारणा की है और उनसे सचाई का पता लगे या न लगे—क्या सचमुच उसका पता लग सकेगा?—मनुष्य की तर्कवृत्ति को सन्तुष्ट करने लायक युक्तियां उद्भावित हुई हैं। तत्ववेत्ता इन अनुमिति मूलक प्रतिज्ञाओं को तत्वज्ञान या सिस्टम या जगत् प्रपंच की थ्योरी कहने में आनन्द पाते हैं और समस्त जागतिक व्यापारों को उन प्रतिज्ञाओं के सांचे में ढालना चाहते हैं। मनस्तत्व, सौन्दर्य तत्व और काव्य भी इनकी लपेट से नहीं बच पाते। फल यह होता है कि काव्य में अनेक प्रकार के ऐसे वादों का समावेश हुआ है जो वस्तुतः तत्त्ववादियों की अनुमिति मूलक प्रतिज्ञाओं की सन्तान हैं। अत्यन्त आधुनिक काल में यह प्रवृत्ति बड़े जोरों पर है।

यह तो मैं कैसे कहूं कि प्राचीन काल में हमारे देश में यह बात थी ही नहीं। काव्यालोचना के क्षेत्र में यहां भी दार्शनिकों का प्रवेश हुआ था महिमभट्ट नैयायिक थे

और उन्होंने काव्य के रसबोध को भी अनुमान का विषय सिद्ध करना चाहा है। अभिहितान्वयवादी और अन्विताभिधानवादी मीमांसक भी काव्य चर्चा में थोड़ी बहुत गर्मी ले आए थे पर उनका मुख्य विषय अर्थ निर्णय था, रस-मीमांसा नहीं। कुमारिल अभिहितान्वयवादी थे। और प्रभाकर भट्ट अन्विताभिधानवादी। अभी तक यह नहीं सुना गया कि इन दोनों में से किसी ने काव्यार्थ पर विचार किया था। इनका विषय वैदिक अर्थ था। परन्तु इनके विचार बहुत युक्तिपूर्ण थे और परवर्ती आलंकारिक इनके मतों की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। इसलिये इनका मत अलंकार शास्त्र का आलोच्य होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इन्होंने काव्यविचार को सीधे अपना लक्ष्य बनाया था। अभिनवगुप्त कश्मीर के शैव दर्शन के आचार्य थे। उनका मत निश्चय ही एक विशेष दृष्टिवाले दार्शनिक का विचार है। मम्मट ने उनको ही सबसे बड़ा सम्मान देकर उनके मत के पक्ष में अपना झुकाव दिखाया था। बहुत थोड़े अन्तर के साथ पंडितराज जगन्नाथ ने भी इनका मत मान लिया था। परन्तु चाहे मम्मट और अभिनवगुप्त की भांति यह मान लें कि अज्ञान रूप आवरण से रहित जो चैतन्य है उससे युक्त इत्यादि स्थायी भाव ही रस हैं, या पंडितराज की भांति यह मान लें इत्यादि से युक्त आवरण रहित चैतन्य ही रस है, दर्शन का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। दोनों मतों में जो भेद है वह दो दृष्टिकोणों के कारण। एक में चैतन्य विशेषण इत्यादि विशेष्य और दूसरे में इत्यादि विशेषण है, चैतन्य विशेष्य। पंडितराज का मत शांकर अद्वैत से प्रभावित है और बाद में चलकर इस मत ने अन्य आलंकारिकों को भी प्रभावित किया है। इस प्रकार काव्यालोचना के क्षेत्र में थोड़ा बहुत दर्शन का प्रभाव इस देश में भी पड़ा है पर दार्शनिकों ने इस क्षेत्र को संपूर्ण रूप से हथिया कभी नहीं लिया। आज नाना प्रकार की समस्याओं ने मनुष्य जीवन को चंचल बनाया है, ये दर्शन को नई खाद्य सामग्री देती रहती हैं और दर्शन के मध्यम से उन समस्याओं का समाधान बताने वाले वाद काव्यालोचना के क्षेत्र में उतरते हैं। इसीलिये आज काव्य की आलोचना करते समय मनुष्य उन सब बातों की आलोचना करता है जो किसी भी तत्वज्ञान की पोथी में पाये जा सकते हैं—मनस्तत्व, जीव विद्या, प्रजननशास्त्र, नीतिविद्या, कानून, अर्थशास्त्र, और ऐसे ही अनेक विषय काव्यालोचना के विषय होते जा रहे हैं। छूटता है केवल एक ही विषय, काव्यगत रसानुभूति। क्योंकि वस्तुतः रसवस्तु अनुभव की चीज है, विवेचना की नहीं। कहते हैं, एक बार श्री कृष्णचन्द्र ने स्त्रीवेश धारण करके राधिका के प्रेम की परीक्षा लेनी चाही थी। राधा ने उनके

प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहा था कि ऐ सखी, जो व्यक्ति प्रेमानुभूति को जानने की इच्छा रखता है—ज्ञान द्वारा उसे प्राप्त करना चाहता है—उसे वेदना (अनुभूति) को समझाना एक वेदना (पीड़ा) ही है। प्रेम तो कुछ ऐसी वस्तु है जो विवेचना करने से अन्तर्धान हो जाता है और नहीं विवेचना करने से भी अविदित ही रह जाता है।

यो वेद ये द्विविधिपुं सखि वेदनं यत् या वेदना तदखिलं खलु वेद नैव
प्रेमा हि कोऽपि पर एव विवेचने सत्यन्तर्दधात्यलम साव विवेचनेऽपि ॥

यह ठीक है पर "अलमसावविवेचनेऽपि" ही मनुष्य का बड़ा परिचय है। सत्यमात्र अनुभवग्राम्य वस्तु है, फिर चाहे वह गणितज्ञ की पेंसिल की नोंक से निकला हो या संगीतज्ञ के सितार की झंकार से। परन्तु मनुष्य उसको बुद्धि परक विवेचना देने में हिचका नहीं है। 'सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिन रहा न कोई।' क्योंकि कहे बिन रह जाना मनुष्यत्व का विरोधी है। अनुभूति भी बुद्धि विवेच्य अवश्य है। कभी कभी यह बात गलत ढंग से समझी जाती है। यह विश्वास किया जाता है कि मनुष्य की आन्तरिक अनुभूति से जो बातें जानी जाती हैं वह और होती हैं और तर्क से जो बातें जानी जाती हैं वह और होती है। दोनों मानों दो जगत् हैं, जिनका परस्पर कोई संबंध ही नहीं है। साहित्य जैसी सुकुमार वस्तु के लिये कार्य-कारण परम्परा मूलक तर्क भावना एकदम बेकार चीज़ है और न्याय जैसे कठोर शास्त्र के लिए अनुभूतियों का कोमल तंतु उतना ही निरर्थक है जितना हाथी को बांधने के लिए कच्चा धागा। यही समझ कर हर्ष कवि को उनके विरोधी नैयायिक पंडित ने सुकुमार शास्त्र का जानकार कहकर उपहास किया था। श्री हर्षकवि को यह बात स्वीकार नहीं थी। उनका मत था कि मूल वस्तु है ज्ञान की सक्रिय प्रतिभा। जो लोग समझते हैं कि तरुण दम्पतियों का प्रेम कंटकाकीर्ण वनस्थली में शिथिल हो जाता है और सुखमय प्रसाद में दृढ़ हो जाता है, वे भोले हैं। प्रेम हो तो बाह्य परिस्थितियां कुछ बना या बिगाड़ नहीं सकतीं। सक्रिय प्रतिभा हो तो कोई भी शास्त्र बुद्धि-विलास का विषय हो सकता है। हर्ष पंडित ने विरोधी नैयायिक को इस भाषा में उत्तर दिया था—

साहित्ये सुकुमार वस्तुनि दृढ़न्यायग्रह ग्रंथिले
तर्के वा मयि संविधातरि स्वयं लीलायते भारती।
शैय्या वास्तु मृदूत्तरच्छदवती दर्भाङ्करैःसंवृता
भूमिर्वा हृदयंगमो यदि पतिस्तुल्या रतिर्योषिताम् ॥

यह सत्य है कि कुछ विषय आन्तरिक अनुभूति के क्षेत्र में आते हैं और कुछ दूसरे विषय वाह्य वस्तुओं की सामंजस्य विधायिनी तर्कना के क्षेत्र में परन्तु सर्वत्र एक ही वस्तु दोनों को समझती और प्रकाश करती है—मनुष्य की बुद्धि। मानवीय चेतना के एक किनारे है भाव और दूसरे किनारे है तथ्य। एक काव्य को, संगीत को कला को माध्यम बनाकर प्रकाशित होता है, दूसरा दर्शन को और विज्ञान को। दोनों एक दूसरे से विच्छिन्न नहीं हैं। एक को छोडकर दूसरा रह नहीं सकता। तथ्य भी भाव के सहारे खड़ा है और भाव तो तथ्य के विना एकदम लंगड़ा ही होता है। हर्षकवि का मत चाहे एक ही व्यक्ति को आश्रय रूप में देखने से स्वीकार करने योग्य न जान पड़े पर मनुष्य जाति को आश्रय रूप में देखकर यदि इस पर विचार किया जाय तो वह सोलह आने सत्य है। कैसे? देखा जाय।

तथ्य को समझने वाली बुद्धि चेतना के उस किनारे पर कारबार करती है जो वाह्य जगत को द्रष्टा की अनुभूतियों से यथासंभव असंपृक्त रहती है। मनुष्य में वह विषय प्रधान दृष्टि की प्रतिष्ठा करती है। विषयीयानी द्रष्टा के भावों से विषय यानी द्रष्टव्य जितना ही स्वतन्त्र, असंयुक्त और निर्लिप्त रहेगा वह उतना ही तथ्यमूलक होगा। परन्तु वाह्य-जगत् के सभी विषय एक ही साथ इस तथ्यानुधाविनी दृष्टि के लक्ष्य नहीं बनते। द्रष्टा ही उन वस्तुओं को वाह्य जगत् से चुनता है और उनके विश्लेषण से तथ्य जगत् का पता लगाता है। इस प्रकार रसायन-विज्ञान या पदार्थ-विज्ञान एकदम द्रष्ट निरपेक्ष विद्या नहीं कहे जा सकते फिर भी यह ठीक है कि विज्ञानों का आदर्श द्रष्टनिरपेक्ष होना ही है। विज्ञान द्रष्ट निरपेक्ष तथ्य का अनुसंधाता है, गणित इस प्रकार की चेतना के सबसे पहले किनारे का विषय है। अन्यान्य विज्ञानों में लौकिक जगत् की जानकारी आवश्यक होती है और इसीलिये द्रष्टा या विषयी के कुछ भावों के लिप्त होने की आशंका बराबर बनी रहती है, पर गणित में लौकिक वस्तुओं की जरूरत कम-से-कम होती है। इसलिये गणित सबसे अधिक द्रष्ट-निरपेक्ष विज्ञान है, और कम-से-कम द्रष्ट-सापेक्ष। ठीक इसी प्रकार चेतना के उस किनारे पर संगीत और साहित्य हैं जहां बुद्धि अन्तर्जगत् के भाव को लेकर काम करती है। परन्तु यह भी तथ्य को छोड़कर नहीं रह सकते।

साहित्य का और अन्य ललित कलाओं का धर्म ही प्रकाश करना है वे तथ्य के पात्र में सुरक्षित भाव को ही आस्वाद योग्य बनाते हैं हम पहले ही कह आए हैं कि संगीत कम से कम विषय-सापेक्ष विद्या है। काव्य उससे अधिक किन्तु अन्य साहित्यागों से कम

विषय-सापेक्ष है। यदि साहित्य का एक छोटा सा क्षेत्र चेतना के अन्तर्मुखी परले किनारे की ओर बना दिया जाय तो काव्य उसमें संगीत की ओर अर्थात् चेतना के विषय-सापेक्ष और विषय-निरपेक्ष किनारे की ओर रहेगा और उपन्यास उसके विरुद्ध दूसरी ओर रहेगा। उपन्यास और काव्य में यह मौलिक अन्तर है कि उपन्यास मौजूदा परिस्थिति को भूलकर भविष्य की कल्पना नहीं कर सकता जबकि काव्य वर्तमान परिस्थिति की या ज्ञात तथ्य की सर्वाधिक नवीन परिणति की संपूर्णतः उपेक्षा करके भी अपने आदर्श गढ़ सकता है। यही कारण है कि उपन्यासकार तथ्य को नहीं छोड़ सकता, वह वर्तमान से आंख नहीं मूंद सकता—यहां तक कि पुराने ऐतिहासिक कथानक को आश्रय करने पर भी वह आधुनिकतम ऐतिहासिक अनुसंधान की बात मन में बराबर बनाये रहकर ही आगे बढ़ सकता है। वह कवि की भांति जमाने के आगे रहने का दावा नहीं करता। काव्य दुनिया की छोटी से छोटी तुच्छता को भी महिमामंडित कर सकता है, पर उपन्यासकार तुच्छता को तुच्छता मानकर ही कारबार करता रहता है। यह संपूर्ण रूप से नये यंत्रयुग की उपज है और इस युग के सपूर्ण दोष गुणों को लेकर ही इसका जन्म हुआ है। नये युग की कलों ने इसकी मांग बढ़ाई है और उन्हीं ने इसकी पूर्ति का साधन भी जुटाया है। यह गलत धारणा है कि उपन्यास और कहानियां संस्कृत की कथा और आख्यायिकाओं की सीधी सन्तान हैं। कथा और आख्यायिका नाम मात्र के गद्य हैं। उनमें वह झंकार है जो छन्द का प्राण है। वे काव्य की श्रेणी में पड़ती हैं। यह झंकार आधुनिक कविता का प्राण भले हो। उपन्यास में वह दुर्लभ है। उपन्यास तथ्य जगत् से बहुत अधिक संपृक्त है। वह विशुद्ध गद्य-युग की उपज है। उसकी प्रवृत्ति में गद्य का सहज स्वच्छन्द प्रवाह है। उपन्यास में दुनिया जैसी है उसे वैसी ही चित्रित करने का प्रयास प्रधान होता है, कथा-आख्यायिकाओं का लेखक पुराने कवि की भांति कल्पना द्वारा एक रसमय लोक का निर्माण करता है। वस्तुतः कथा आख्यायिकाएँ काव्य के पास पड़ती हैं और उपन्यास तथ्य प्रधान जगत् के पास। उपन्यास और कहानियां आज के सबसे मजबूत साहित्यांग हैं। इसका कारण यह है कि उपन्यासकार और कहानीकार का अपना एक मत होता है, काव्य की भाँति वह भावावेग द्वारा अन्तर्जगत् की अनुभूति को उतना नहीं जगाता बल्कि बाह्य जगत् के तथ्यान्वेषण के कारण उत्पन्न समस्याओं के बारे में अपना निश्चित मत व्यक्त करता है। वैयक्तिक स्वाधीनता के नाम से परिचित आधुनिक डेमोक्रेटिक भावना का सर्वोत्तम रूप उत्तम उपन्यासों को आश्रय करके प्रकट हुआ है। इसकी नींव उन वस्तुओं पर रखी हुई है जो गम्भीर भाव से निरन्तर ही हमारी सामान्य

में यह प्रश्न हुआ कि साहित्य पढ़ने से मनुष्य को कुछ जीवन में न पढ़ने से सफलता या असफलता मिलती है या नहीं ? और फिर यह असफलता या सफलता काव्य या अन्य साहित्यांगों के उत्कर्ष या अपकर्ष की कसौटी हैं या नहीं ? मनुष्य ने जो अपने अनुभवों की दुनिया बनाई है, उसीके हिसाब उसने भले या बुरे, सुंदर या असुंदर की कल्पना भी बना ली है। यह कल्पना क्या कल्पना ही भर है या इसकी कुछ उपादेयता या यथार्थता भी है ? सब प्रश्नों को समेट कर संक्षिप्त किया जाय तो मूल प्रश्न यह है कि किस बात से हम निश्चय कर सकते हैं कि कोई वस्तु अच्छी है या बुरी है और वह कसौटी साहित्य पर किस प्रकार लागू होती है। इतना शुरू में ही मान लेना चाहिए कि सबकी एक कसौटी होनी चाहिए, यह नहीं कि विज्ञान के लिये एक हो और कला के लिये दूसरी और तत्ववाद के लिये तीसरी। क्योंकि जब सभी मनुष्य-चेतना की ही उपज हैं तो उनमें कोई समानता तो होनी ही चाहिए।

जब कभी मैं इस मनुष्य की उत्पत्ति की बात सोचता हूँ तो अपने रक्तकणों में एक अपूर्व झनझनाहट अनुभव करता हूँ। आप मेरी इस दुर्बलता को क्षमा करेंगे। पर मैं इस बात को सोचे बिना रह नहीं सकता। यह मुझे समस्त सत्यों का सत्य जान पड़ता है। न जाने किस पुण्य क्षण में किसी अज्ञात काल के अज्ञात मुहूर्त में हमारा यह ग्रह पिण्ड जिसका नाम पृथ्वी दिया गया है, सूर्य मण्डल से टूट गया था, उस समय यह ज्वलन्त गैसों से भरा हुआ था। शुरू से अन्त तक केवल ताप से परिपूर्ण इस त्रुटित धरित्री खण्ड के किस कण में जीव तत्त्व वर्तमान था, कोई नहीं जानता। उसके बाद लाखों वर्ष तक यह पिंड ठंडा होता रहा, चक्कर मारता रहा, दुर्दान्त वेग से दौड़ता रहा। खिलाड़ी के इशारे पर नाचने वाले हैं। सरकस के घोड़े की तरह यह चक्कर काटता रहा। लाखों वर्षों तक तप्त धातुओं की लहाछेह वर्षा होती रही, लाखों वर्ष धरित्री का ऊपरी भाग धसकता, मसकता रहा; लाखों वर्ष इसकी पपड़ी ठंडी होती रही। तब से आज तक यह विचित्र धरित्री-पिंड विपुल आकाश में निस्सहाय घूम रहा है। कोई भी परबलयमार्गी धूमकेतु इसे एक ही धक्के में चूर्ण विचूर्ण कर दे सकता था और आज भी कर दे सकता है, कोई भी अतिपरवलय-पंथी परिव्राजक पिंड इसे चुंबक की भांति सटाक से खींचकर निगल ले सकता था और निगल ले सकता है, पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। दुर्दान्त वेग कम हो गया, तप्त धातुओं की लहाछेह वर्षा रुक गई, धसकन मसकन का उत्पात शिथिल हो गया। और सबसे आश्चर्य की बात यह हुई कि एक एकदम नवीन वस्तु का

आविर्भाव हुआ—जीवकण ! न जाने कब से जीव तत्त्व उन तप्त धातुओं में छिपा हुआ अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा में बैठा हुआ था। समस्त जड़शक्ति के मस्तक पर पैर रखकर जब वह मृदुल तृणांकुर के रूप में पैदा हुआ तो पृथ्वी के इतिहास में अघटित घटना ही घटी थी। जड़शक्ति में सबसे अधिक शक्तिशाली थी महाकर्ष की शक्ति - ग्रैविटेशन पावर। नगण्य तृणांकुर ने उसकी प्रतिभा नहीं मानी, वह सिर उठा के खड़ा हो गया। महाकर्ष की शक्ति उसे नीचे नहीं खींच सकी नहीं खींच सकी। तब से आज तक वह उस वस्तु को नीचे नहीं खींच सकी है जिसमें प्राण है। जीव तत्त्व की ऊर्ध्वगामिनी वृत्ति आज तक समस्त जड़ तत्त्वों को परास्त कर के विराज रही है।

जीव तत्त्व विकसित होता गया एक कोश से अनेक कोशों में, सरल संघात से जटिल समूह के रूप में, कर्मेन्द्रिय प्रधान जीवों से ज्ञानेन्द्रिय प्रधान जीवों के रूप में और अन्त में उसने मनुष्य के रूप में अपने को प्रकट किया। मनुष्य उसकी अन्तिम परिणति है। पंडितों ने देखा है कि मनुष्य तक आते आते प्रकृति ने अनेक प्रयोग किए हैं, कितने ही जीव ऐसे बनाए हैं जिनका नाम भी अब नहीं बच रहा है। इस प्रयोगशाला में प्रकृति ने न जाने कितने प्रयोग किए हैं। एक वृक्ष बनाने के लिये उसने एक हजार बीज बनाए हैं। यह विशाल फिजूल खर्ची क्या व्यर्थ है ? यह अद्भुत रचना-कौशल क्या अन्ध प्रचेष्टा का फल है, यह असंख्य प्रयोग क्या राह भूले व्यक्ति के प्रयास हैं ? या योजना बनाने वाली किसी बुद्धि के अभाव का परिचायक हैं। मनुष्य को यहां तक ले आने में क्या केवल संयोग ने काम किया है या किसी अज्ञात महाशक्ति का इशारा काम कर रहा है। कौन बताएगा कि इतनी बरबादी प्रकृति ने किस उद्देश्य की सिद्ध के लिये सही है।

मनुष्यके आने के पहले प्रकृति अपने आप लुढ़कती-पुढ़कती, घिसटती-घसटती चल रही थी। मनुष्य ने उसके कार्य-कारण परंपरा नीरंध्र ठोस भूमिका में दरार किया। उसने इच्छाशक्ति को प्रवेश कराया। अब तक जो कुछ जैसा था होने को बाध्य था। मनुष्य ने कहा, जैसा है वैसा नहीं, जैसा होना चाहिए यहीं से सृष्टि का नया अध्याय शुरू हुआ। मनुष्य प्रकृति के आदेश को न मान कर वह रास्ता ढूंढ़ने लगा जिसमें प्रकृति उसकी इच्छा की अनुवर्तिनी हो। वह विजयी हुआ। उसके इशारे पर प्रकृति चलने लगी। मित्रों, यह रक्तकण को झनझना देने वाली वार्ता नहीं है, इससे अधिक उल्लास और उत्कंप पैदा करने वाली बात और क्या हो सकती है ?

जो जैसा है उसे वैसा ही मान लेना मनुष्य पूर्व जीवों का लक्षण था पर जो जैसा हैं वैसा नहीं, बल्कि जैसा होना चाहिए वैसा करने का प्रयत्न मनुष्य की अपनी विशेषता है। इसमें प्रयत्न की आवश्यकता होती है। प्रयत्न करना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है, पशु में और मनुष्य में बहुत-से सामान्य धर्म है; मनुष्य उतनी दूर तक पशु ही है जितनी दूर तक वह केवल आदिम सहजात मनोवृत्तियों और असंगत तथा अविविक्त संयोगों से चालित होता है। लोभ सहजात मनोवृत्ति है, वह पशु और मनुष्य में समान है, पर औदार्य, पर-दुःख-संवेदन उसमें नहीं होते, यह मनुष्य की अपनी विशेषता है। स्वार्थ के लिये लड़ पड़ना मनुष्य और पशु में समान हैं पर दूसरे के लिये अपने को उत्सर्ग कर देना, अपने कष्ट सहकर भी दूसरे की सुविधा कर देना मनुष्य की अपनी विशेषता है। इसी प्रकार आहार, निद्रा आदि पशु सामान्य धरातल से जो ऊपर की चीज है जो संयम से, औदार्य से, तप से और त्याग से प्राप्त होती है वह मनुष्य की अपनी विशेषता है। यही मनुष्य की मनुष्यता है। फिर मनुष्य बुध्य है, वह प्रकृति के नियमों का विश्लेषण करता है। और इस प्रकार उनका उपयोग करता है जिससे वह नई सृष्टि कर सके। विवेक, कल्पना, औदार्य और संयम मनुष्यता है और इसके विरुद्ध जाने वाले मनोभाव मनुष्यता नहीं है।

परन्तु क्या प्रमाण है कि मनुष्य ने जो कुछ सोचा है या किया है वह सचमुच ही वैसा है जैसा होना चाहिए? या फिर क्या सबूत है कि जिन बातों को हमने मनुष्यता कहा है वे निश्चित रूप से उनसे अच्छे ही गुण हैं जिन्हें हमने मनुष्यता नहीं कहा है? हम यहां जो कुछ देख रहे हैं, जो कुछ सोच रहे हैं, जो कुछ समझ रहे हैं और वे सभी बातें जिन्हें हम भविष्य में जानेंगे मनुष्य की दृष्टि से देखा हुआ मनुष्य की अपनी त्रुटि-विच्युतियों से परिभावित मानव-सत्य हैं। यह कोटि कोटि योजनों में विस्तृत विशाल ब्रह्माण्ड-निकाय भी मनुष्य का सत्य है और यह अत्यन्त सूक्ष्म तर्क-वितर्क, ज्ञान-वैराग्य, रस-भाव, तथ्य-सत्य सब मनुष्य की आंखों से देखा हुआ मानव-सत्य है। केंकड़ा तिरछा चलता है। एकबार केंकड़े के बच्चे ने अपनी मां से पूछा कि मां मनुष्य के बच्चे तिरछा क्यों चलते हैं। मां ने उत्तर दिया, उनका स्वभाव ही ऐसा है। केंकड़े की दृष्टि से मनुष्य की चाल तिरछी है, क्योंकि केंकड़े का जगत् केंकड़े का अपना सत्य है। मनुष्य की दृष्टि में केंकड़े की चाल तिरछी है क्योंकि मनुष्य-दृष्ट जगत् है। दोनों में कौन ठीक है?

वस्तुतः यह प्रश्न उतना महत्वपूर्ण है नहीं, जितना ऊपर ऊपर से दिखाई देता है। क्योंकि चाहे भलाई-बुराई कहिए या सुंदर-असुन्दर कहिए या नैतिक-अनैतिक कहिए ये सारी धारणाएँ मनुष्य-दृष्ट जगत् की हैं इसलिये जब हमें इन बातों के माध्यम से सोचना पड़ता है तो वस्तुतः हम माननीय जगत् की ही बात सोचते रहते हैं। इसलिए जब हम अच्छा या बुरा, सुन्दर या असुन्दर, नीति संगत या अनीति संगत बात करते हैं तो वस्तुतः मनुष्य-दृष्ट तथ्यों और भावों के सामंजस्य या असामंजस्य की ही बात करते हैं। मनुष्य में दो भाव हैं—जड़ भाव और चेतन भाव। जड़ उसे नीचे की ओर खींचता है, गतिहीन बनाता है और चेतन उसे ऊपर की ओर ले जाता, गति देता है। चेतन में भी कुछ मनुष्य-पूर्व संस्कार हैं जो उसकी स्वार्थमय वृत्ति को रूप देते हैं और कुछ मनुष्य-संचित संस्कार हैं जो उसे छोटी स्वार्थ-सीमा को छोड़कर दूसरों के साथ एक करते हैं। मनुष्य जितना ही अधिक 'मनुष्य' होता है उतना ही अधिक वह दूसरों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर सकता है और इसको अन्तिम तर्क संगत परिणाम तक ले जाया जाय तो कह सकते हैं कि 'एकत्व' की अनुभूति ही मनुष्य की चरम मनुष्यता है। यह देखा गया है कि व्यक्तिगत सुख-सुविधा के लिए मनुष्य जिन बातों के भाव को बहुमान देता है, अभाव से विचलित होता है उन्हें वह उस समय एकदम तुच्छ समझता है जब दूसरों के प्रति समवेदना से आकृष्ट होकर अपने आपकी बलि देने को तैयार हो जाता है। साधारण अर्थ में जिसे दुख माना जाता है उसे वह उस अवस्था में सुख मानता है। दुनिया के समस्त व्यवहारों का अर्थ ही उसकी दृष्टि में भिन्न हो जाता है। यह समवेदना एक अपूर्व द्रावक रस है। समस्त ललित कलाओं का यह प्राण है। इसके संस्पर्श में आकर दुःख दुःख नहीं रहता, सुख सुख नहीं रहता। समस्त मनोभाव ज्यों के त्यों रहते हैं पर उनकी अनुभूतियां एकदम बदल जाती हैं। मनुष्य का यह निजी धर्म है। भागवत में यह बताया गया है कि धन से, प्राण से, मन से, वचन से, कर्म से मनुष्य अपनी देह के लिये पुत्र-पौत्रादि के लिए उन्हें सम्पूर्ण मानव समाज से अलग समझ कर जो कुछ भी करता है वह असत् होता है, परन्तु इन्हीं स्थूल वस्तुओं से और राग प्रवण मनोवृत्तियों से जब वह समस्त मनुष्य को एक समझकर अपृथक् समझकर कर्म करता है तो वह 'सत्' हो जाता है क्योंकि ऐसा कर्म किसी खण्ड तथ्य की नहीं बल्कि 'पूर्ण' की सेवा में नियुक्त होता है और स्नेह रस से सबके मूल का सेचन करता है—

यद् युज्यतेऽसु वसु कर्म मनो वचोभिर्देहात्मजादिषु नृभिस्तदसत् पृथक्त्वात्।
तैरेव सद्भवति चेत् क्रियतेऽपृथक्त्वात् सर्वस्य तद्भवति मूलनिसेचनं यत्।

भा० ८-६-२६

सो यह मनुष्य की एकत्वानुभूति ही मनुष्य की चरम मनुष्यता है। जब अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़कर—समस्त सुख दुःखों की तेलबाती में जलाकर—मनुष्य अपने आपको महा 'एक' को समर्पण करता है तो वह 'मनुष्य' बनता है। उसका सम्पूर्ण जीवन चरितार्थ होता है। जहां यह भाव नहीं है, जहां कहीं मनुष्य अपने को, निर्दलित इक्षुदण्ड की भांति, सुख-दुःख की चक्की में पीसकर अपना जीवन-रस सबके सुख के लिये दे सका है वहीं उसका श्रेष्ठ रूप प्रकट हुआ है, जहां ऐसा नहीं हो सका वहां उसका श्रेष्ठ रूप भी प्रकाशित नहीं हुआ। मनुष्य का श्रेष्ठ रूप में प्रकट होना ही उसका स्वभाविक धर्म है। स्वाभाविक का अर्थ सहजात आदिम मनोभाव नहीं समझना चाहिए। प्रयत्न करना मनुष्य का स्वभाव है और उसका स्वाभाविक धर्म प्रयत्न का विरोधी नहीं हो सकता। मनुष्य में कुछ पशु-सामान्य आदिम मनोवृत्तियां हैं जो अनायास ही, थोड़ी सी उत्तेजना पाते ही झनझना उठती हैं। उनमें मनुष्य की अपनी कोई विशेषता नहीं है। जिस बात में मनुष्य की विशेषता है, वह है उसकी साधना, तपस्या, आगे बढ़ने का प्रयत्न। इसीलिये मनुष्य का स्वाभाविक धर्म अनायास नहीं प्राप्त होता, साधनालभ्य होता है वह आहार निद्रा के समान पशु-सामान्य धर्म है। अब तक मनुष्य में साधनालभ्य धर्म को प्राप्त करने का सामूहिक प्रयत्न नहीं हुआ। व्यक्तिगत रूप से ही अब तक उसकी साधना चलती रही है। परन्तु "महा एक" की साधना के लिए समूचे समाज का प्रयत्न होना चाहिये। जब तक यह साधना नहीं होती तब तक वह सिद्धि भी नहीं मिलने की जिसके बिना संसार में मारकाट नोंच-खसोट, झगड़े-टंटे, युद्ध-अकाल बढ़ते जा रहे हैं, और मनुष्य के नख-दन्त नाना-भांति मारणास्त्रों के रूप में प्रकट होते रहेंगे।

अभी जिस बात को मैंने मनुष्यता कही है वही जब उच्छलित हो उठती है, उसका आनन्द जब अन्तर को पूर्ण रूप से भरकर बाहर प्रकाशित हो उठता है तभी काव्य बनता है और काव्य ही जब तथ्य-जगत् के विभिन्न उपादानों का आश्रय लेता है तो अन्यान्य साहित्यांगों के रूप में प्रकट होता है। साहित्य, वस्तुतः मनुष्य का वह उच्छलित आनन्द है जो उसके अन्तर में अँटाए नहीं अँट सका था। परिपक्व दाड़िम फल की भांति वह अपने रंग और रस को अपने भीतर बन्द नहीं रख पाता। आम्रफल के बाहर जब उसके रंग का ऐश्वर्य उच्छलित हो उठे तो समझना चाहिये कि उसके भीतर मधुर रस पूर्ण रूप से भर गया है। मनुष्य का अन्तर भी जब रस से परिपूर्ण हो उठता है तो वह गा उठता है, काव्य करने बैठता है और तथ्यात्मक जगत् से सामग्री संग्रह करके छन्दों में, स्वरों में,

अनुच्छेदों में, परिच्छेदों में, सर्गों में, अंकों में, अपना उच्छलित आनन्द भर देता है। जिसे भी इस रस का साक्षात्कार मिल गया होता है वह रुक नहीं सकता। वह अपने संपूर्ण अस्तित्व को निचोड़कर 'महा एक' को समर्पित किए बिना रह नहीं सकता। दूसरे भी छन्द लिखते हैं पर उस छन्द में प्राण नहीं होता, उसमें 'मनुष्य' बनने की ओर जाने की प्रेरणा नहीं होती और यह गांठ बांध लीजिए कि जिस काव्य या नाटक या उपन्यास के पढ़ने से मनुष्य में अपने छोटे और संकीर्ण स्वार्थों के बन्धन से मुक्त होने की प्रेरणा नहीं मिलती तथा 'महान एक' की अनुभूति के साथ अपने आप को दलित द्राक्षा के समान निचोड़ कर 'सर्वस्य मूल निषेचनं' के प्रति तीव्र आकांक्षा नहीं जाग उठती वह काव्य और वह नाटक और वह उपन्यास दो कौड़ी के मोल का भी नहीं है। छन्द में भी शक्ति होती है, स्वर में भी शक्ति होती है, अनुप्रास में भी शक्ति होती है परन्तु वे सभी बाह्य हैं- मूल वस्तु है यही आनन्द का अतिरेक। उसी से सजीव सृष्टि संभव है। शास्त्रकारों ने बताया है कि विधाता ने भी आनन्द से ही समस्त जगत् की सृष्टि की थी, समूचा दृश्य जगत् उसकी लीला है। यह जो कुछ हम देख रहे हैं, छू रहे हैं, सुन रहे हैं यह सब प्रपंच उसका लीला-विलास मात्र है। मनुष्य उसी विधाता का श्रेष्ठ प्रतिरूप है जब उसमें अपना स्वाभाविक धर्म चरम उत्कर्ष पर पहुँचता है तो उसमें भी वही लीला-विलास उत्तरंग हो उठता है। उसके उच्छलित आनन्द के अतिरेक से उद्भूत सृष्टि ही सच्चा साहित्य है।

साहित्य के अध्ययन के लिये नाना प्रकार के बाह्य आकार प्रकारों का,—छन्द का, शैली का, व्यंगार्थ का, अलंकार का, रचना-कौशल का,—अध्ययन आवश्यक होता है। वस्तुतः ये सभी बातें मनुष्य-बुद्धि की उपज हैं और इसीलिये अनुपेक्षणीय हैं लेकिन इनकी कोई सीमा नहीं बंधी है। जिस व्यक्ति के मन में मानवता के स्वाभाविक धर्म की उपलब्धि का आनन्द उच्छल हो गया होता है, जिसमें कहने योग्य बात कहलाने की बेचैनी पैदा कर दिए होती है, वह नया छंद बना लेता है, नये अलंकारों की योजना कर लेता है, नई शैली बना लेता है परन्तु जिसे इन बातों का तो ज्ञान हो लेकिन मूल बात का स्पर्श ही नहीं, वह साहित्यकार नहीं हो सकता। वह भी साहित्य लिख सकता है, उसके लिखे को भी लोग साहित्य कह लेते हैं, उसमें 'मनुष्यता' हो या न हो। परन्तु जिस मनुष्य के पास बेचैनी होती है पर वाह्य आकार प्रकार का परिचय नहीं होता, वह अपना रास्ता बना ही लेता है। साहित्य का सहृदय आलोचक सिर हिलाकर घोषणा करता है कि यह नई शैली है, नया छंद है, नई अलंकार योजना है! असली

बात यह होती है कि नया मनुष्य नया प्राण लेकर नवीन आवेगों से भाषा को झंकृत करता है और उनसे अपने हृद्गत भावों को कहलवा लेता है। कबीरदास इस लिये नहीं रुके कि उन्हें छंद और अलंकार पढ़ लेने चाहिए। उन्होंने उस महारस का पान कर लिया था, उनका अन्तर उससे परिपूर्ण हो गया था,-समूचे काल को निचोड़ कर उसकी छाक पी ली थी। वे कहने को व्याकुल थे और इसीलिए कह गए। जिस छन्द में कह गए, जिस शैली में कह गए, जिस भाषा में कह गए वह सब नई हैं। साहित्य का आलोचक मूँडमार कर उसका हिसाब-किताब सम्हालता रहे, कहने वाले को उसकी परवा नहीं है। जो मस्ताना आठो पहर की छाक पीकर, समूचे काल का रस निचोड़ कर कुछ बन गया था, वह कहाँ तक इन बातों की चिन्ता करता?—

आठहू पहर मस्ताना माता रहै
आठहूं पहर की छाक पीवै।
कहै कब्बीर कोइ सन्त जन सूरमा
लाल निचोड़ि कै अमृत पीवै !!

जिन लोगों ने तथ्यात्मक जगत् में अनुसंधान किया है वे भी अन्त तक इस आनन्द को अनुभव करते हैं, उनका रास्ता दूसरा है, यहां हम उनकी चर्चा नहीं करेंगे। परन्तु उनकी साधना से जो ज्ञान उपलब्ध होता है उसको आश्रय करके मानव चित्त का उच्छल आनंद नाना रूपों में प्रकट होता है। यह उचित ही है। पर कभी कभी गलती यह की जाती है कि तथ्यात्मक जगत् के ज्ञान को आश्रय करके मानव चित्त के स्वाभाविक धर्म की उपलब्धि से प्राप्त आनंद को नहीं रूप दिया जाता, बल्कि उन ज्ञान तथ्यों को प्रचारित करने का प्रयत्न किया जाता है। फ्रायड आदि विचारकों ने मनुष्य को समझने के नये द्वार उद्घाटित किए हैं। ये विचारक वैज्ञानिक हैं, उन्होंने मनोजगत् के जिन रहस्यों का उद्घाटन किया है उन्हें तथ्यात्मक जगत् का ही रहस्य समझना चाहिए। ये चरम सत्य नहीं हैं, यद्यपि कभी कभी इन्हें अन्तिम सत्य मानकर साहित्य लिखने का प्रयत्न होता रहता है।

यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि तथ्य जगत् से गाढ़ भाव से सम्बद्ध होने पर भी साहित्य का सबसे अधिक सम्बन्ध मानसिक जगत् से है। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि आज के मनोविज्ञान के नवीन अविष्कारों ने हमारे तरुण साहित्यकारों को अभिभूत कर दिया है। मुझे मनोविश्लेषण शास्त्र से बड़ा अनुराग है, जब कभी

सुनता हूं कि इस विषय की कोई नई पुस्तक छपी है तो उसे पाने और पढ़ने का प्रयत्न करता हूं। बुद्धि-विद्या के अनुसार उसके भावों को ग्रहण भी करता हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि फ्रायड और उसके शिष्यों ने मनुष्य को समझाने के लिये बहुत उत्तम साधन प्रस्तुत किए हैं। हमारे अपने मानस में निरन्तर प्रवाहित होने वाली अनेक अज्ञात धाराओं को उन्होंने ज्ञात बताया है और अपने आप को समझने की कुञ्जी दी है। पर सब मिल-कर वह शास्त्र अभी शैशवावस्था में ही है। अब भी बहुत-कुछ इसकी पकड़ के बाहर रह गया है। फिर यह मनोविश्लेपण विज्ञान यद्यपि बहुत तेजस्वी है, जनमते ही न जाने कितने रूढ़ विश्वासों को इसने चित कर दिया है और आचार शास्त्र, सौंदर्य-विवेचक शास्त्र तथा नैतिक विधान आदि पर तो इसने दुर्दान्त आक्रमण किए हैं – तथापि वह मनुष्य द्वारा उद्भावित महान् ज्ञानराशि का एक कणमात्र ही है। इसे सब सांचों के साथ मिलाकर तब स्वीकार करना चाहिए—"सब सांच मिलै तो सांच है ना मिलै सो झूठ!"

हमने ऊपर देखा है कि तथ्यात्मक जगत् के ऊहापोह में लगे हुए वैज्ञानिक इस बात को परवा नहीं करते कि उनका आविष्कृत नवीनतथ्य अन्य गवेषणाओं द्वारा उप-लब्ध तथ्यों के साथ सामंजस्य रखता है या नहीं। यह काम उनका नहीं है। यह तत्त्व-ज्ञानियों का काम है। सुना है पदार्थ-विज्ञान और जीव-विज्ञान ने ऐसे अनेक तथ्यों का पता लगाया है जिनका अर्थ एक समय उन तथ्यों के अनुकूल नहीं पड़ता जिन्हें मनोवि-श्लेषण शास्त्र ने खोज निकाला है। तरुण साहित्यकार एकमात्र मनोविश्लेपण शास्त्र को ही साहित्य-सहायक शास्त्र मान ले तो ग़लती करेगा। मनोविश्लेपण शास्त्र भी उसी प्रकार का तथ्य-विवेचक शास्त्र है जिस प्रकार के अन्य जड़ विज्ञान हैं। यह समझना कि अव-चेतन चित्त की शक्तिशाली सत्ता ही हमारे चेतन चित्त के विकारों को कार्य का रूप दे रही है और अत्यन्त निचले स्तर में विद्यमान हमारी अवदमित वासनाओं और प्रसुप्त कामनाओं के महासमुद्र में हमारा यह दृश्य चेतन-चित्त बोतल के कार्क के समान उतरा रहा है और दुर्दान्त अन्तर्लहरियों के थपेड़े की मार खाकर इधर से उधर उसी प्रकार मारा मारा फिर रहा है जिस प्रकार भारहीन तूलखण्ड प्रचण्ड बवण्डर में भटक रहा हो,—पूर्ण समझना नहीं है। इससे मनुष्य की नियतिदासता के भाव को बढ़ावा मिलता है, जो असत्य है; इससे मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति की नगण्यता सिद्ध होती है, जो झूठ है; इससे मनुष्य को युक्ति तर्क-प्रवण प्रवृत्ति का प्रत्याख्यान होता है, जो एकदम

गलत है; इससे मनुष्य की उस दुर्जय शक्ति का अपमान होता है जिसमें प्रकृति को अपने अनुकूल करने का संकल्प है, जो अशोभन है; और सबसे बढ़कर मनुष्य के उन समस्त सद्गुणों का तिरस्कार होता है जिन्हें संयम कहा जाता है, विवेक कहा जाता है, साधना कहा जाता है, आत्मदान कहा जाता है,—जो अवाञ्छनीय है। मुझे यह देखकर आश्चर्य होता है कि उन प्रगतिवादियों को भी यह सिद्धांत मनोरम लगने लगा है जिनका मूल मंत्र ही दुनिया को नये सांचे में ढालना है, जो कर्म में विश्वास करते हैं, जो उन समस्त मानसिक उन्मादनाओं के ध्वंस करने का स्वप्न देखा करते हैं जिन्हें सुविधाभोगी वर्गों ने बड़े बड़े नाम देकर अपने स्वार्थ साधन का उपाय बना रखा है !

वस्तुतः इन दोनों मनोभावों का कोई सामंजस्य नहीं है। यह विश्वास करना कि मनुष्य का युक्ति परायण होना ही उसके समस्त नैतिक आचरणों का स्रोत है, यहां तक कि ईश्वर की कल्पना भी मनुष्य ने इसी नैतिकता के स्रोत की सिद्धि के लिए की है और साथ ही यह भी कहना कि मनुष्य जिसे तर्क-संगत विचार (या रीज़न) कहता है वह असल में उसके संगति बैठाने (या रैशनलाइज़ेशन) का ही प्रकारान्तर है, वह तो व्याघात दोष है। फिर भी यह क्या आश्चर्यजनक बात नहीं है कि हमारे बहुत से साहित्यकार ऐसी बातें एक साँस में कह जाते हैं ! जब मैं कहता हूं कि मैं मनोविश्लेषण शास्त्र का प्रेमी हूं तो मेरे मन में जो बात होती है उसे स्पष्ट कर देना चाहिए। मुझे ऐसा लगता है कि सचमुच ही मनुष्य के ऐसे अनेक कार्य हैं जो उसकी अवदमित वासनाओं के प्रकाश हैं। सचमुच ही ऐसे अनेक विचार हैं जो उसकी प्रसुप्त वासनाओं के विलास हैं और सचमुच ही ऐसे अनेक तर्क हैं जो तर्काभास हैं और अपने आपको भुलावा देने के लिए उद्भावित संगति लगाने के प्रयासमात्र हैं। मनोविश्लेषण शास्त्र के आधार पर मनुष्य के इन आचरणों को समझा जा सकता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार थर्मामीटर द्वारा शरीर के ताप को समझा जा सकता है। परन्तु न तो थर्मामीटर मनुष्य के और भी गम्भीर मर्मस्थल के ताप का पता देने का दावा कर सकता है और न मनोविश्लेषण शास्त्र को मानवात्मा की बुनियादी नींव का पता लगाने का दावा करना चाहिए। उसकी भी एक सीमा है। एक खास तह तक पहुँच कर वह बेकार और भोथा हो जाता है। इसी प्रकार श्रेणी संघर्ष के कारण मनुष्य समाज की अनेक समस्याएँ पैदा हुई हैं, उनके स्वरूप को समझने के लिए और उनका प्रतिविधान करने के लिये भी कुछ विशेष प्रकार के शास्त्र आवश्यक हैं। उनके अध्ययन से हमें मानव समाज के ऊपर से सतह की हलचलों का यथार्थ ज्ञान होता है। परन्तु इन समस्त ऊपरी हलचलों के विक्षुब्ध तरंग-संघात के नीचे निस्तब्ध भाव से विराजमान है मनुष्य की एकता। मनुष्य

एक है, भेद-विभेद ऊपरी बातें हैं। मनुष्य की इस महान एकता क पाने के लिये समस्त संकीर्ण स्वार्थों का बलिदान, क्षणिक आवेगों का दमन, उत्ताल संवेगों का निरोध अशुचि वासनाओं का संयमन, गलत तर्क पद्धति का निरास और आत्मधर्म का विवेक आवश्यक साधन हैं। इन्हीं से वह परम आनन्द चित्त में उच्छल हो उठता है जिसका प्रकाश साहित्य है। जो साहित्यिक सुख असंयम से, अविवेक से, लोभमोह से उत्पन्न होता है वही मानसिक उन्मादना है, प्रसुप्त वासनाओं का विलास है, लिबिडो' की उत्ताल तरंगों पर असहाय भाव से भटकना है। उसे साहित्य नहीं कहना चाहिए क्यों कि वह 'सर्वस्य मूल निषेचनं' नहीं है।

यह भी निस्सन्देह मनुष्य दृष्ट सत्य ही है। परन्तु मनुष्य के पास इन समस्त इंद्रियों द्वारा साक्षात्कृत जगत् प्रपच के अतिरिक्त और कुछ देखने का साधन क्या सचमुच ही नहीं है? ऐसा जान पड़ता है कि यही सब कुछ नहीं है, कुछ इससे भी व्यापक है, मनुष्य-दृष्ट जगत् केवल कणमात्र है। जिस महासत्य ने अपने को मनुष्य-दृष्ट जगत् के रूप में प्रकट किया है वह यहीं समाप्त नहीं हो जाता—त्रिपादस्यामृतं दिवि। किस साधन के द्वारा मनुष्य ऐसा अनुभव करता है? कौन बताएगा? प्रवाहण जैवलि ने इसी बात को ओर इशारा किया था, हमारे अन्तस्तल से यही ध्वनि निकल रही है कि ऐसा जान पड़ता है कि मनुष्य के भीतर ऐसा कुछ अवश्य है जो उस विशालतर अज्ञात का समानधर्मा है। ऐसा कुछ है अवश्य। परन्तु यह मेरा विश्वास है और मैं आपके सामने इसे इस रूप में प्रकट नहीं करना चाहता कि वह तर्क संगत जँचे। वह केवल विश्वास है। बुद्धि और तर्क के द्वारा हम जो कुछ जानते हैं, जान सकते हैं, कल्पना कर सकते हैं वह सब मनुष्य-दृष्ट सत्य है। सब कुछ: कोई भी अपवाद नहीं। काव्य हो या काव्यगत रसानुभूति हो, मनुष्य दृष्ट वृहत्तर नैतिक नियमों से बाहर नहीं पड़ सकते।

लेकिन रस के नाम पर मैंने बहुत अधिक नीरस चर्चा बढ़ा दी। वस्तुतः रस अनुभव गम्य वस्तु है और उसकी विवेचना के लिए ऐसे विषयों की अवतारणा करनी पड़ती है जो रस के उपकरण होते हैं या फिर ऐसी बातों की चर्चा करना पड़ती है जो रस होते ही नहीं। ऐसा विवेक के परिष्करण के लिये किया जाता है। लक्षणग्रंथ विशेष रूप से काव्य उपादानों की ही चर्चा करते हैं। हमने देखा है कि चाहे लक्षणग्रंथ हों या काव्यग्रंथ हों, दोनों के ही लिये यह आवश्यक है कि हम उन्हें तत्काल वर्तमान बाह्य परिस्थितियों से विच्छिन्न करके देखें तो छिलके को ही रस समझने की भूल कर सकते हैं। फिर भिन्न-

भिन्न मानव-समुदाय, भिन्न भिन्न भौगोलिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों के भीतर से विकसित होने के कारण अपने भीतर ऐसे अनेक संस्कार पैदा कर लेते हैं जिन्हें उस समुदाय की विशेषता माना जाता है। इन संस्कारों के अध्ययन करने वालों ने देखा है कि यद्यपि विभिन्न समाज में उनके रूप बहुत भिन्न-भिन्न हो गए हैं पर एक ही प्रकार के मनोभाव से चालित होकर मनुष्य उन विशेष प्रकार के संस्कारों तक पहुंचा है। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध से दिखने वाले संस्कार भी वस्तुतः मनुष्य की एकधर्मिता को ही सिद्ध करते हैं। 'संस्कार' शब्द का प्रयोग करते समय मुझे थोड़ा संकोच ही हो रहा है। संस्कार शब्द अच्छे अर्थ में ही प्रयुक्त होता है, परन्तु मनुष्य स्वभाव से ही प्राचीन के प्रति श्रद्धापरायण होता है और प्राचीन काल से संबद्ध होने के कारण कुछ ऐसी धारणाओं को श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगता है जो जब शुरू हुई होंगी तब तो निश्चय ही उपयोगी रही होंगी परन्तु बाद में उनकी उपयोगिता घिस गई और वे रूढ़ि मात्र रह गईं। ऐसे संस्कार सब समय वृहत्तर मानव पटभूमिका पर खरे नहीं उतरते। काव्य जिज्ञासा के क्षेत्र में भी संस्कार हमारे मार्गदर्शक बन जाते हैं। कुछ तो प्राचीन काल के काव्य-लक्षणों के अध्ययन के कारण हमारे चित्त में काव्य-स्वरूप और रस स्वरूप के विषय में ऐसी बातें जड़ जमा लेती हैं जो काल विशेष की परिस्थिति विशेष के कारण उपजी थीं। इन धारणाओं को मन में जमाए रखकर हम जब आधुनिक युग के काव्य को पढ़ने लगते हैं तो रसबोध में बाधा पड़ती है। ठीक यही बात आधुनिक काल के काव्यलक्षणों से उत्पन्न धारणाओं के कारण प्राचीन काव्य के समझने में बाधक होती है। अपने प्रथम व्याख्यान में मैंने संक्षेप में इन काल गत संस्कारों की चर्चा की है। फिर देशगत और जातिगत संस्कार भी अन्य देश और अन्य जाति के विश्वासों पर आधारित साहित्य को समझने में बाधक होते हैं। अपने दूसरे व्याख्यान में मैंने इस कठिनाई की ओर ही आपका ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट किया है। मनुष्य का मस्तिष्क ठोस आधारों को आसानी से ग्रहण करता है। सौंदर्य को वह उसके संपूर्ण उपादानों के साथ ही ग्रहण करता है। इसीलिये सौंदर्य के साथ साथ उसके आधारभूत वाह्य उपकरणों और अधिकरणों को वह छोड़ नहीं पाता। हमारे साहित्याध्ययन में उपकरण अधिकरण, और आधेय रसवस्तु के परिष्करण और विवेक की व्यवस्था और भी अधिक होनी चाहिए। सहृदयों ने बराबर सावधान किया है कि लावण्य वस्तु प्रसिद्ध अवयवों से भिन्न और अतिरिक्त पदार्थ है। मुख नाक, कान आदि शारीरिक अवयव सबके होते हैं पर सब में लावण्य नहीं होता। उसी प्रकार काव्य में भी कुछ प्रतीयमान वस्तु होती है जो प्रसिद्ध अवयवों से भिन्न वस्तु है:—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥

लेकिन मनुष्य स्वभाव—तत्राणि तरुण मस्तिष्क—प्रसिद्ध अवयवों को छोड़ कर उस लावण्य को सहज ही धारण नहीं कर पाता। इसी के लिये साधना और विवेकशक्ति की आवश्यकता होती है। यदि यह साधना नहीं की गई अर्थात् काव्य के मूल सौन्दर्य को तत्तत्कालीन परिस्थितियों द्वारा उपस्थापित उपकरणों से तथा तत्तत् समुदाय के विश्वासों से अलग करके देखने योग्य विवेचना शक्ति नहीं जाग्रत की गई तो ये वाह्य आधार देश और काल को भेद कर मनुष्य के सर्वोत्तम प्रयत्न साहित्य—के समझने में बाधक सिद्ध होंगे।

पुराने और नये काव्यों उपन्यासों और नाटकों को उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि पर रख कर देखना और देशगत और कालगत संस्कारों को रसोपलब्धि के मार्ग में बाधक न होने देना, इन दोनों बातों का एक ही अर्थ है—साहित्य को वृहत्तर मानव समाज से अविच्छिन्न समझना। साहित्यिक रचनाएँ केवल व्यक्ति की निजी अनुभूति की सीमाओं में आबद्ध नहीं होतीं; वे समूची सामाजिक चेतना का अनुरणन हैं। यदि इस प्रकार पूर्व निश्चित् धारणाओं से मुक्त होकर और बृहत्तर मानव समाज से अविच्छिन्न समझकर और सामाजिक चेतना का अनुरणन जानकर साहित्य का अध्ययन किया जाता तो वे अनेक मत जन्म ही न ले पाते जिनके कारण साहित्यिक आलोचना का कार्य इतना वैयक्तिक, और कभी कभी हास्यास्पद तक लगने लगता है। नाना मुनियों के नाना मत देशगत जातिगत और कालगत संस्कारों को चरम सत्य मान लेने के कारण प्रादुर्भूत होते हैं। वृहत्तर सामाजिक पटभूमि से विच्छिन्न करके देखने के कारण ही ये मत केवल खण्डसत्य की बात बताते हैं। सत्य को उसके पूर्णरूप में देखने का प्रयत्न होना चाहिए। परन्तु समस्या इतने से ही हल नहीं हो जाती। हम विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न मानों और देशगत कालगत तथा जातिगत संस्कारों का विवेक कर भी लें तो भी यह विवेच्य रह ही जाता है कि किसी भी विचार या कार्य का औचित्य कैसे निश्चय किया जाय। यह आवश्यक हो जाता है कि प्रत्येक कार्य को और प्रत्येक विचार को हम वृहत्तर मानवीय नैतिकता के तुलादण्ड पर रखकर उनका वज़न निश्चित करें। मनुष्य के सुख दुःखों का परिचय और उसकी आशा अकांक्षाओं की गाढ़ उपलब्धि तब तक महनीय नहीं हो सकतीं जब तक उनसे मनुष्य उस महान् धर्म की ओर उन्मुख और क्रियाशील

नहीं हो जाता जिसे 'मनुष्यता' कहते हैं। मनुष्य की ऐसी भी आशा-अकांक्षाएं हैं जो उसे पशुता की ओर ले जाती हैं, ऐसे भी सुख-दुख हैं जो उसकी जड़ता के परिचायक हैं, सबको सिर माथे धारण करने से साहित्य अपने मूल धर्म से विच्युत होता है। बहुत सी आदिम मनोवृत्तियां ऐसी हैं जो ज़रा-सा उत्तेजना पाते ही झनझना उठती हैं, साहित्य में उनकी भी खुशामद की गई है, उनकी भी स्तुति की गई है; परन्तु वे मनुष्यता के आधारभूत धर्म को ही नहीं स्वीकार करतीं। उनमें वह नई सर्जन-प्रेरणा नहीं है, जगत् को सुंदर बनाने की उमंग नहीं है जिसने मनुष्य में ऐसी शक्ति दी थी कि जिससे मनुष्य ने प्रकृति को अपने अनुकूल बनाने का संकल्प किया था। धूल में लोटना बहुत सहज है परन्तु मनुष्य धूल में लोटना पसंद नहीं करता। सब आसान और अनायास साध्य बातें मनुष्य को प्रिय नहीं हैं क्योंकि वह स्रष्टा है, वह धर्म वृत्तिक है, वह समूचे प्राकृतिक जगत् को अनुकूल और मनोरम रूप में गढ़ लेने का व्रती है। इसीलिये साहित्य का कर्म वही समझ सकता है जो साधना और तपस्या का मूल्य समझ सके। 'मनुष्य' रूपी पुरुष ही — अर्थात् पशु सुलभ धरातल से ऊपर उठा हुआ मनुष्यत्व धर्मी जीव ही सृष्टि की सबसे बड़ी साधना है। उससे बड़ा कुछ भी नहीं—पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः।